

* श्रीबीमुहगीराज्ञी जयतः *

स वे पुसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे ।

धर्मः स्वतुष्टिः पुसां विद्वक्सेन कथामु यः ।

वेत्ताम्बैव वृंदा वृंदा वृंदा वृंदा वृंदा वृंदा -



अहैतुक्यप्रतिहता यथात्मासुप्रसीदति ।

सर्वोत्कृष्ट धर्म है वह जो आत्मा को आनन्द प्रदायक ।
भक्ति अधोक्षज की अहैतुकी विघ्नशून्य अति मंगलदायक ॥

सब धर्मों का थेड़ रीति से पालन करते जीव निरातर ।
किन्तु हरि-कथा-प्रीति न हो अम व्यर्थं सभी केवल बंचनकर ।

वर्ष १२ } गोराब्द ४८१, मास—विष्णु १६, वार—गमोदिशायी { संख्या १०-११
शुक्रवार, ३१ चैत्र, यम्बत् २०२४, १४ अप्रैल, १९६७ }

श्रीद्रवज्जिलास-स्तवः

[गतांकसे आगे]

सादृं मानसजात्त्वो-मुख-नदीवर्गः सरङ्गोत्करेः
सावित्र्यादि सुरोकुलैश्च नितरामाकाशवाण्या विषेः ।
वृन्दारण्यवरेण्य-राज्यविषये श्रोपीर्णमासो मुद्रा
राधा यत्र सिषेच सिद्धतु सुखं मोऽमत्तराधास्थली ॥६१॥

प्रीत्या नन्दीश्वरगिरितटे स्फारपाषाणवृन्द-
दचातुष्कोण्येऽनुकृतिगुरुभिन्निमिता या विदर्थेः ।
रेमे कृष्ण सखिपरिवृतो यत्र नर्माणि तन्व-
शास्थानी तां हरिपदलसत्-सोरभाक्तां प्रपद्ये ॥६२॥

वैदरध्योजज्वलवलगुवल्लव-वद्युवर्गेण नृत्यन्नसौ
हित्वा तं मुरजिद्रसेन रहसि श्रीराधिकां मण्डयन् ।
पुष्पालङ्कृति-सञ्चयेन रमते यत्र प्रमोदोत्करे-
त्रेलोक्यादभुतमाघुरी-परिवृता सा पातु रासस्थली ॥६३॥

गान्धविका-मुरविमदंत-नौविहार,-लीला-विनोद-रसनिभंरभोगिनीयम् ।
गोवद्वन्नोज्ज्वल-शिलाकुलमुन्नयन्ती, वीचीभरेरवतु मानसजाह्नवो माम् ॥६४॥

येषां क्वापि च माघवो विरहते स्तिर्घंवंयस्योत्करे-
स्तद्वातुदव-पुखा-चित्रितरंस्तेत्स्तेः स्वयं चित्रितः ।
खेलाभिः किञ्च पालनंरपि गवां कुत्रापि नर्मोत्सवैः
श्रीराधा-सहितो गुहामु रमते तान् शैलवर्यान् भजे ॥६५॥

स्फीते यत्र सरित्-सरोवरकुले गाः पालयन्निर्वृतो
श्रीध्मे वारि-विहारकेलि-निवहैर्गोन्ददिव्यात्मजः ।
प्रीत्या सिञ्चति मुरघवित्र-निकरान् हर्षेन मुरघः स्वयं
कौकन् स्वीयजयं जयार्थिन इमान्नित्यं तदेतद्भजे ॥६६॥

येषां कच्छपिका-लसन्मुरलिका-नादेन-हृषोत्करे:
स्तस्ताद्वंस्तृणगुच्छ एव नितरां वक्त्रेषु संस्तम्भते ।
सरुयेनापि तयोः परं परिवृता राधा-वकद्वेषिणो-
स्ते हृद्या मृगयूथपाः प्रतिदिनं मां तोषयन्तु स्फुटम् ॥६७॥

गुखदभृज्जकुलेन जुष्टकुसुमैः सञ्चद-मत्रजुञ्चियाँ
कुखानां निकरेषु येषु रमते सोरभ्यविस्तारिणाम् ।
उच्यत्कामतरज्ज-रज्जित-मनस्तन्नव्ययूनोयुंगं
तेषां विस्तुत-केषापाशनिकरे: कुर्यामहो माज्जनम् ॥६८॥

येषां चारु-तलेषु शीतनिविडच्छायेषु रात्रिश्चिदवं
पुष्पाणां विगलत्-पराग-विलसत्तल्पेषु क्लृप्ताश्रयम् ॥

प्रीत्या स्तिरघमधुद्रतैर्मधुकरणैः संसेवितं तन्नवं
यूनोर्युग्मतरं मुदा विहरते ते पान्तु मां भूरुहाः ॥६६॥

गान्धर्वा-मुरवेरिणोः प्रणयिणोः पुष्पाणि संचिन्वतोः
स्वैरं स्मेरसखोकुलेन वृतयोरोषतस्मितेन द्वयोः ।
द्वृष्टा केलिकलि तयोर्नवनवं हास्येन पुष्पच्छ्वलैः
कामं या विलमन्ति ताः किल लताः सेव्याः परं प्रेमभिः ॥७०॥

परिचय-रसमग्नाः काममारात्तयोर्ये, मधुरतर-रुतेनोल्लासमुल्लासयन्ति ।

वज्रभुवि नवयूनोः सुप्रियाः पक्षिणस्ते, विदधतु मम सौख्यं स्फारमालोकनेत ॥७१॥

चूतेष्वेषु कदम्बकेषु वकुलेष्वन्येषु वृक्षेष्वलं
प्रीत्या माघविकादि-वल्लिषु तथा भाङ्गारनादैर्द्ययोः ।
ये भृङ्गाः परितस्तयोः सुखमरं विस्तारयन्ति स्फुटं
गुञ्जन्तो बत विभ्रमेण नितरां तानेव वन्दामहे ॥७२॥

अनुवाद—

मगवती श्रीपोरणमासी देवीने अह्माकी आकाश-
वाणीके अनुसार जहाँपर अत्यन्त उल्लासपूर्वक
नृत्य करती हुईं सावित्री आदि देवियोंके साथ
मानस गङ्गा प्रमुख नदियोंके जलसे श्रीमती राधिका-
जीका श्रीवृन्दावनके श्रेष्ठ राज्यके अधीश्वरी-पद पर
अभिषेक किया है, वह उन्मत्त राधास्थली मेरे सुख
का अभिषेक करें अर्थात् मुझे सुख प्रदान करें ॥६१॥

सुविज्ञ शिल्पाचायोंने नन्दीश्वर पर्वतके समीप
बड़े-बड़े पत्थरोंके द्वारा प्रीतिपूर्वक चतुष्कोणके
आकारमें जिसका निर्माण किया है एवं जहाँ पर
श्रीकृष्ण श्रीदामादि मित्रमण्डली द्वारा परिवेष्टित
होकर विविध प्रकारके कीर्तुकोंका विस्तार करते
हुए क्रीड़ा करते हैं, श्रीहरिके चरणकमलोंके सीरभ

से सुवासित उस आस्थानी नामक श्रीकृष्णकी
कीड़ास्थलीका मैं आश्रय ग्रहण करता हूँ ॥६२॥

मुरविजयी श्रीकृष्णने अतिशय विदग्ध रसवती
गोपरमणियोंके साथ नृत्य करके उक्त गोपरमणियों
का परित्याग कर जिस निजंन स्थलीमें श्रीमती
राधिकाको नाना प्रकारके पुष्पालङ्कारोंसे सजाकर
उनके साथ क्रीड़ा करते हैं, वैलोक्यके अद्भुत माधुर्य
से परिमण्डित वह रासस्थली अपने यहाँ वास करने
में मेरी समस्त-प्रकारकी विघ्न-बाधाओंसे रक्षा
करें ॥६३॥

जो राधाकृष्णके नोका-विहार रूप लीला-
विनोदका निरन्तर रसास्वादन करती हैं; और जो
अपनी तरङ्गोंसे श्रीगोवद्धनकी अत्युज्ज्वल शिलाओं

को उन्मज्जित करती रहती हैं, वे मानसी गङ्गा श्रीश्रीराधाकृष्णके लीलारस आस्वादनमें प्रतिकूल विषयोंसे मेरी रक्षा करें ॥६४॥

जिनकी गिरिकादि रंग-बिरंगी धातुओंसे श्रीकृष्ण स्वयं चित्रित होकर दूसरे-दूसरे चित्रित अङ्गोंवाले सुस्तिन्ध सखाओंके साथ क्रीड़ा करते हुए गोचारण करते-करते श्रीमती राधिकाके साथ जिनकी किसी निर्जन कन्दरामें रमण करते हैं, उन गिरिराज श्रीगोवद्धनका मैं भजन करती हूँ ॥६५॥

ब्रजेन्द्र-नन्दन श्रीकृष्ण ग्रीष्मकालमें जिन विस्तृत नदियों (यमुना आदि) तथा सरोवरों (श्रीराधाकुण्ड आदि) के किनारे गोचारण करते हुए उनके सुशीतल-हिन्दू जलमें विविध प्रकारकी जल-क्रीड़ाओंके आनन्द रसमें विभोर होकर अपनी विजयकी इच्छासे जिन अन्यान्य विजयको अभिलाषा रखनेवाले सखाओंके ऊपर जोरोंसे जल-सिंचन कर रहे हैं, उन जयार्थी सखामण्डली और उन सरित-सरोवरोंका मैं भजन करती हूँ ॥६६॥

श्रीमती राधिकाकी कच्छपी नामक वीणाकी भंकार तथा श्रीकृष्णकी मुरलीनादका श्वरण कर आनन्दमें विभोर हुए जिन मृगोंके मुखमें पतित अद्वितीय तृणगुच्छ उनके गलेसे न नीचे उतरता है न बाहर ही निकलता है-जहाँका तहाँ पड़ा रहती है तथा जो तृण ग्रासको निगलना भूलकर परम सरूपतासे श्रीश्रीराधा कृष्णको चारों ओरसे घेर कर (उनकी ओर ऊपरकी ओर मुख कर) खड़े हो जाते हैं, श्रीराधाकृष्णके वे मनोहर मृगपतिगण मुझे प्रतिदिन आनन्दित करें ॥६७॥

गुंजीयमान भ्रमरोंसे युक्त पुष्पोंसे परम मनो-

हर शोभाको धारण करनेवाले मनोमोहक सौरभसे युक्त जिन कुञ्जोंमें नवीन युवा-युगल—श्रीश्रीराधाकृष्ण उच्छ्वलित काम तरंगसे रंजित चित्त होकर परस्पर रमण करते हैं, अहो ! अपने लम्बे केश-कलापसे मैं उन कुञ्जोंका मार्जन करूँगी ॥६८॥

जिनकी मनोहर सघन और सुशीतल छायाके नीचे पुष्पोंके भरते हुए मकरन्द द्वारा सुशोभित पुष्प शय्या पर विराजमान होकर तथा मधुकरणोंके लोभसे चंचल मधुकरों द्वारा आनन्दपूर्वक संसेवित होकर श्रीराधाकृष्ण युवा-युगल दिन-रात प्रीति-पूर्वक विहार करते हैं, वे वृक्ष समूह मेरी रक्षा करें ॥६९॥

मधुर-मधुर हास्य करती हुईं सखियोंसे परिवेष्टित होकर जो इष्ट वास्य कर रहे हैं और मन्द-मन्द गतिसे चलते जो पुष्प चयन कर रहे हैं, परस्पर प्रणयी श्रीश्रीराधाकृष्णके नव-नव वेलिकलापका दर्शन कर जो पुष्पोंके बहाने हँसती हुईं विलास करती हैं, उन लताओंकी मैं प्रेमसे सेवा करती हूँ ॥७०॥

जो पक्षीगण ब्रजभूमिमें उन नवीन युवा-युगल के परिचय रसमें निमग्न रहते हैं तथा मधुरतर शब्दोंसे दोनोंको उल्लासित करते हैं, वे मुझे दर्शन देकर सुखी करें ॥७१॥

आम्र, बकुल, कदम्ब और अन्यान्य वृक्षों तथा माघबी आदि लताओंके ऊपर बैठ कर जो भ्रमर-गण सजातीय भंकार घनिसे गुनगनाते हुए श्रीश्रीराधागोविन्दके सुखका अतिशय विस्तार करते हैं, मैं यत्नपूर्वक उनकी बन्दना करती हूँ ॥७२॥

(क्रमशः)

सेवापर नाम

वस्तुकी संज्ञाको 'नाम' कहते हैं। जो वस्तुकी संज्ञा प्रदान करते हैं, वे 'नाम-प्रदाता' हैं। जहाँ जड़ीय अहंकार प्रबल है, वहीं सेवाके बदलेमें भोक्तृत्व वर्तमान है। साधारणतः नास्तिक गृहस्थ समाजमें नामकरण कालमें भोक्ता पिता प्राकृत भावसे प्रमत होकर अपने पुत्रका नामकरण करते हैं। इसलिये परमार्थिक समाजमें निरीश्वर - पितृदत्त नामको छोड़कर कृष्णादास्यमूलक नाम देनेकी व्यवस्था है। जो व्यक्ति भगवत् सेवापर नहीं है, वे भगवत्सेवापर नामसे उनके अधीनस्थ व्यक्तियोंका नामकरण नहीं करते। इसलिए नास्तिक समाजके नामका परित्यागपूर्वक पारमार्थिक समाजमें हरिदास्यपर 'नाम' प्रदान करनेकी व्यवस्था है। जिस समय गुरुदेव अथवा वैष्णवोंके निकट अवैष्णव नामसे परिचित व्यक्ति उपस्थित होते हैं, उस समय श्रीगुरुदेव या भगवतगण जीवके स्वरूप निर्दोरक स्थायी चिह्न नाम प्रदान करते हैं। यही कनिष्ठ वैष्णवाधिकार है। जो व्यक्ति कनिष्ठाधिकार लाभ करते हैं, उन्हें ही चतुर्थ संस्कार रूप 'मन्त्र' प्रदान दिया जाता है। मन्त्रके प्रयोगको ही पंचम संस्कार 'याग' या 'योग' कहते हैं। दीक्षित होनेके समय पहले कनिष्ठाधिकार में आदि संस्कारको 'ताप' कहा जाता है।

विष्णुके चार प्रकारके अष्ट - शंख, चक्र, गदा और पद्मद्वारा वैष्णवोंके शरीरमें 'ताप' प्रदान किया जाता है। इन चार अष्टोंसे सुसज्जित होनेसे ही

जीव अपने बाह्य शरीरकी अवैष्णवताका निर्मूलन करनेमें समर्थ होते हैं। तब उनके वैष्णव शरीरमें द्वादश हरिमन्दिर अङ्कन करनेकी योग्यता होती है। यही जीवका द्वितीय संस्कार या कनिष्ठाधिकार में मध्यम संस्कार है। कनिष्ठाधिकारके उभय संस्कारमें यह देखा जाता है बाह्य शरीरमें विष्णु-दासाभिमान व्यक्तीत जीवकी वस्तु-संज्ञामें भगवत्-दास्य-बोधकी आवश्यकता है। यही तृतीय संस्कार है। इन तीन संस्कारोंसे संस्कृत होने पर जीवके बाहरी परिचयमें विष्णुदास जानने या जनानेमें कोई बाधा नहीं रहती।

बाहरी जगत्को छोड़कर अन्तर्जंगत् रूपी मन नाना प्रकारकी बहिमुख प्रवृत्तियोंको लेकर बाह्य चिह्न धारको समय-समय प्रतारणा भी कर सकता है। केवल बाहरमें शंख-चक्रादि तप्तमुद्रा-धारण, उद्धुपुण्ड्र हरिमन्दिरादि चिह्न धारण या आत्मबोधक शब्दात्म हरिदास्यपर नाम—इन तीन प्रकारके संस्कार लाभ करके भी जागतिक भोगबुद्धि के कारण कनिष्ठाधिकारी वैष्णव मानसिक चांचल्यसे छुटकारा नहीं पाते। मानसिक चांचल्यसे मुक्त होनेके लिये विष्णुके दास्यमें मनको नियुक्त करना आवश्यक है।

श्रीभगवानकी सेवामें मनको नियुक्त करनेके लिये सर्वप्रथम आत्मसमर्पणको आवश्यकता है क्योंकि शरणागतिके अभाव होने पर जीव जड़-जगतका भोक्ता हो पड़ता है। इसलिये चतुर्थ और

पंचम संस्कारमें देह और मन भगवत्सेवापर होने की योग्यता लाभ करता है। उस समय तापादि पंचसंस्कारी होकर नवेज्या कर्ममें देह और मनको नियुक्त कर ब्राह्मण-जीवनकी सार्थकतारूप पंचार्थ-तत्त्व विद्यामें उत्तमाधिकारी पारज्ञत होते हैं। उस समय वे वहिमुख जीवको कनिष्ठाधिकार और मध्यमाधिकारमें प्रवेशाधिकार देनेमें समर्थ होते हैं। यद्यपि भगवद्भजन मार्ग या भाव-मार्गमें इन त्रिविध अधिकारगत अर्चंन मार्गका पार्थक्य है, तथापि बहिःप्रज्ञा विशिष्ट जीवका अधिरोहणपथमें यही गुरुका दास्य है। जहाँ गुरुदास्व प्रबल है, वहाँ अधिरोहवादकी प्रबलता नहीं है। वहाँ विष्णुके अवतार और वैष्णवावतार श्रीगुरुदेव और वैष्णवगण चतुर्दश भुवनमें ऋमणपरायण जीवोंके लिये पूजनीय और सेव्य वस्तुके रूपमें दीख पड़ते हैं। भगवद्भजन-मार्ग के जिस त्रिविध अधिकारके बारे में श्रीमद्भागवतमें कहा गया है, वह इस वैष्य या अर्चंन - मार्गका विरोधी न होने पर भी इसकी अपेक्षा उसमें थोड़ी सी स्वतन्त्रता अधिक है। शास्त्रीय विधिमार्ग अनधिकारीको अधिकार प्रदान करता है। अधिकारीके ऊँच-नीच निरांयसे भाव-मार्गका त्रिविध अधिकार है। जिन्होंने 'भक्तिसन्दर्भ' सम्यक् रूपसे आलोचना की है, वे ही इस प्रकृष्ट सत्यको उपलब्धि करनेमें समर्थ हैं।

भगवद्भक्ति राज्यमें प्रवेशार्थीको प्रवेशिका-परीक्षामें उत्तीर्ण होनेके लिए सर्वप्रथम उन्हें तीन संस्कारकी आवश्यकता है। सर्व प्रथम बाहरी परिचय, पश्चात् आन्तरिक परिचय। बाहरी परिचयको ही अर्चंन मार्गमें कनिष्ठाधिकार कहते हैं

और अर्चंन मार्गमें आन्तरिक परिचयमें मध्यमाधिकार है जो कनिष्ठाधिकारके अतिरिक्त 'मन्त्र' और 'योग' से युक्त है। आजकलके पण्डित सम्प्रदायमें बिना पढ़े ही 'परमार्थ' शब्दको जड़ीय अनर्थके अन्यतम समझकर उसके प्रति अवच्छीनताकी हृषिसे देखा जाता है। उनकी ऐसी चेष्टा नितान्त अज्ञता-विज्ञापक मात्र है। गोड़देशमें परमार्थिक समाजमें दिन प्रतिदिन अनभिज्ञताका आदर इतना बढ़ा है कि दीक्षाके चतुर्थ संस्कारके पूर्व और तीन संस्कारोंके प्रति कोई हृषि ही नहीं है।

गौड़ीय 'आचार्य' नामधारी कई व्यक्तियोंकी केवल कनक-कामिनी-प्रतिष्ठानके प्रति सुतीव्र हृषि है। उनमें से बहुत से व्यक्तियोंने समाजके हित-कामनाके बदले अपनी अर्थलोलुपता, प्रतिष्ठाश-प्रियता और इन्द्रिय-परायणताको ही कृष्णप्रेम को तरह अत्यन्त उत्तम स्थान प्रदान किया है। हम इस श्रेणीके अनभिज्ञ व्यक्तियोंको दूरसे ही सम्मान करते हैं और कातर होकर दाँतोंमें तृण धारणपूर्वक उन्हें श्रीचत्न्य महाप्रभुके चरणोंमें अनुराग विशिष्ट होनेके लिए उनके चरणोंमें गिरकर प्रार्थना करते हैं। वे कृपा कर एकबार श्रीजीव गोस्वामी द्वारा रचित "भक्ति सन्दर्भ" आलोचना करें। तब वे यह समझ सकते हैं कि जिस पथमें वे चल रहे हैं, वह अभक्ति का पथ या लौकिक स्मात्तचार है। ऐसे अनभिज्ञ सम्प्रदाय गोड़ देशवासियोंके शिक्षकके कार्यमें नियुक्त हैं, यह वे अपनी बातोंसे परिचय देते हैं। उन लोगोंका कहना है कि पारमार्थिक गुह अपने शिष्योंको क्यों तृतीय संस्कार रूप सेवापर 'नाम' प्रदान करते हैं—उससे क्या 'तृणादपि' भाव नष्ट

हो जाता है ? आश्चर्य ! दुभगि वर्तमान आचार्य नामधारी ! आप लोग बिना समझकर बोल सकते हैं, ऐसी कोई कुभाषणको अभिधानमें आज तक सृष्टि नहीं हुई ! इसलिए तुम लोगोंके निकट शास्त्रीय बातें भी हार मान गई हैं ! यह एक कहानीसे स्पष्ट होगा ।

किसी नीच वर्गके समाजके कुछ व्यक्तियोंने यह जानकर कि पुरोहित वर्ग ठीकसे अध्ययन नहीं करते, पुरोहित सम्प्रदायके किसी ब्राह्मणके लड़केको संस्कृत शिक्षाके लिए भट्टपल्लीमें प्रेरण किया । ब्राह्मण-छात्रके समस्त खर्चका भार उन व्यक्तियोंने लिया । छात्रने प्रचुर परिमाणमें सहायता लाभ कर पाठादिमें नितान्त उदासीन होकर कलबत्ता पहुँचकर वहाँ सहायतासे प्राप्त अर्थको नाना प्रकारके भोग विलासमें प्रचुर रूपमें व्यय किया । बहुत दिन ऐसा विताकर सहायकारी व्यक्तियोंके निकट लौटकर छात्रने अपनी विद्यावत्तमाका परिचय दिया । नितान्त निम्नकुलके व्यक्तियोंने भी उनके कृपाप्राप्त अर्थसे सुशिक्षित छात्रको पाकर उसे विशेष गौरव और प्रशासाका पात्र समझकर प्रचार किया । उनमें से एक संस्कृत-शास्त्रकुशल पण्डित छात्रकी परीक्षा करनेके लिए उसके निकट उपस्थित हुए और बहुत लोगोंके सामने उससे संस्कृत भाषामें प्रश्न पूछकर उससे संस्कृत भाषामें हो उत्तरकी आशा की । 'कस्त्व' प्रश्न थवण कर संस्कृत शिक्षाप्राप्त छात्र अपने सहायदाताओंके सामने अपनी प्रतिभा दिखलानेके लिए 'खस्त्व, गस्त्व' से आरम्भ कर 'शस्त्व, यस्त्व, सस्त्व, हस्त्व, क्षस्त्व' तक उच्च स्वरसे सब बोलने लगा । सहायदातागण इमश्चुमंडित छात्रका

अपार पांडित्य देखकर बहुत पुलकित हुए । तब संस्कृतवित् पंडितने अनन्योपाय होकर उस छात्रके निकट पराजय स्वीकार कर उसके इमश्चु युक्त सिरसे एक केश भिक्षा किया । यह देखकर उपस्थित निम्नजातिके उन सभी व्यक्तियोंने भट्टपल्लीसे आये 'आगाध पंडित छात्र' के सिरसे समस्त इमश्चु राशिको उखाड़ लिया । उससे उस छात्रको उपयुक्त दण्ड मिला ।

आजकल बहुतसे व्यक्ति परमार्थ शास्त्रके उपदेशक स्थानमें रहकर ऐसी अनभिज्ञताका परिचय प्रदान करते हैं और उनको अनभिज्ञताके लिए उपयुक्त दण्ड पाते हैं अर्थात् लोक-निन्दाके पात्र होते हैं । पारमार्थिक शास्त्रके अध्यापक कहनेसे जन साधारणमें उसे महणि अत्रि निर्दिष्ट मूर्ख असमर्थ ही जानते हैं—

बदेविहानाश्च पठन्ति शास्त्रं शास्त्रेण-
होनाश्च पुराण-पाठाः ।
पुराणोत्तोः कृषिणो भवन्ति भ्रष्टास्ततो-
भागवतो भवन्ति ॥

हमने गोड़देशवासी पारमार्थिक आचार्योंका शास्त्र-दर्शनके लिए और उनमें सुशिक्षा विस्तारके लिए जिन सभी अनुष्ठानोंको आरम्भ किया है, वे उनके अविद्या पित्तसे ग्रस्त रसनाके लिए मत्स्याङ्किका (मिथ्रा) के सदृश हैं । उनका वे आदर नहीं कर रहे हैं, किन्तु कालक्रमसे वे उनका आदर करेंगे । यदि उनमेंसे कोई तृतीय 'नाम' संस्कारकी बात मुने होते, तो वर्तमान कालमें विद्यारत्नोपाधिवारी एक सामयिक पत्रिकाके मुख्योपाध्याय महाशय 'भक्तिसारङ्ग' उपाधि लेकर अनभिज्ञ की तरह कंसविणिकके व्यवसाय-रहस्यमें प्रमत्त नहीं होते । 'मूर्खभूमि' की तरह बेनामी चिट्ठी और बेनामी पत्रिकामें 'भूतक-पाठक-सम्प्रदाय' सेवापर नामको अपनी अपनी अनभिज्ञ लेखनी रूपी तीर से विद्ध नहीं

करते। इस सम्प्रदायके शास्त्रदर्शनाभावने केवल उन्हें अन्धा बनाया हो, ऐसी बात नहीं, बल्कि तमःप्रवृत्तिके द्वारा भक्तिरहस्यको कल्पित कर उसे एक जड़-यन्त्रके द्वार मापने की चेष्टा की है। और कोई व्यक्तिने अपने शब्दार्थ बोधके अभावको बतलाने जाकर कुछ वाद्ययन्त्रोंके साथ सेवाचिह्नका संयोग किया है। ऐसी ज्ञानकी संकीर्णताने आजकल भूतक-बत्ता और बङ्गीय पत्रिका के 'सवाजान्ता' सम्पादक का धुर ग्रहण किया है। हम इनकी पांडित्य प्रतिभासे विस्मित हुए हैं।

श्रीधरस्वामीने श्रीमद्भागवतकी टीकामें 'सारङ्ग' शब्दका अर्थ भक्त और अभिज्ञ बतलाया है। इसके अलावा श्रीज्ञानेन्द्रमोहनदास द्वारा संकलित बङ्गला अभिधानमें 'सारङ्ग' के २७ प्रकारके विभिन्न अर्थोंमें वाद्ययन्त्रको भी ग्रहण किया है। 'वाचस्पत्य' और 'शब्दकल्पद्रुम' आदि प्रचलित कोषोंमें अनेक प्रकारके अर्थ लिखे हुए हैं।

कनिष्ठाधिकार का तृतीय-संस्कार अव्यर्थ 'नाम' जो श्रीहरिगुरु-वैष्णव प्रदान करते हैं, वह भी बाल-चपलतामें परिणत होते देखकर हमें आश्चर्य होता है। कलिके घर्म वर्णनमें यह भविष्यवाणी की गई है कि आयु, विद्या और प्रतिष्ठा आदि

का कलिमें हास होगा। इस कथन की सार्थकता अभी देखनेमें आता है। बंगालमें एक कहावत है— 'पागल क्या नहीं बकता, बकरा क्या नहीं खाता'। इस देशमें सभी सहिष्णुताके आदर्श हैं इसलिए इन सभी बातोंकी उपेक्षा करनेकी प्रचुर योग्यता रहते हुए लोकहितकी कामनासे इतनी बातें कहने के लिए बाध्य हुआ। आजकल शास्त्रीय संस्कार समूह की उपेक्षा करना ही रुचिके अनुकूल हुआ है। उसी रुचिके वशीभूत होकर भक्तिके अनुष्ठानोंकी उपेक्षा करना ही नवीन युवकोंकी नैसर्गिक प्रवृत्ति हो गयी है। क्रमशः उनका विचार इतना कल्पित हो गया है कि प्रतिष्ठादा परायण व्यक्ति जिस प्रकार अपने जड़-उपाधियोंको लेकर व्यस्त रहते हैं, वे उसी प्रकार सेवापर नामोंको भी अहंकार—प्रसूत जडोपाधिमात्र समझते हैं। वस्तुतः जड़-उपाधि और सेवापर नाममें सम्पूर्ण विपरीत भाव है। जड़-उपाधियाँ बलदर्पके उत्तेजक हैं और भक्ति-सूचक सेवापर नाम जड़-जगतके 'तृणादपि सुनीचता' के ज्ञापक हैं। पाठक ! आप इस विषय पर चिन्ता करेंगे तो क्रमशः समझ सकेंगे।

जगद्गुरु अविष्णुपाद श्रील सरस्वती ठाकुर

प्रश्नोत्तर

वैष्णव-तत्त्व

(गतांक से आगे)

१६—क्या मध्यम वैष्णव वैष्णवताकी ऊँच-
नीचता या भला-बुरा विचार नहीं करेंगे ?

“वैष्णव भले हैं कि मध्यम हैं—ऐसा विचार करना उचित नहीं है,—यह बात केवल उत्तम-वैष्णवोंके लिए कहा गया है। मध्यम वैष्णव ऐसी बात कहनेसे अपराधी होंगे ।”

—जै० ध० द म अ०

२०—कनिष्ठाधिकारीकी कठिनाई कहाँ है ?

“कनिष्ठाधिकारी वैष्णव-तारतम्य विचार न कर सकने पर समय-समय पर शोचनीय अवस्थामें पड़ जाते हैं ।”

—चौ० शि० द१४

२१—कनिष्ठाधिकारीको किस समय शुद्ध नामाधिकार और वैष्णव-सेवाधिकार प्राप्त होता है ?

“कनिष्ठावस्थामें कुछ दिन नामाभ्यास होता है। नामाभ्यास द्वारा अनर्थ दूर होने पर शुद्धनामाधिकार और वैष्णव-सेवाधिकार प्राप्त होता है ।”

—‘भजन-प्रणाली’ ह० चि०

२२—कौन अधिकारीका वैष्णव-सेवामें अधि-

कार है ? वैष्णव सेवामें तारतम्य विचार करना क्या पक्षपात करना नहीं है ?

“वैष्णव सम्मान और वैष्णव-सेवामें केवल मध्यम-वैष्णवका ही अधिकार है। मध्यम वैष्णवों का कर्तव्य है कि वे तीन प्रकारके वैष्णवोंकी सेवा करें—जो एकद्वारा कृष्णनाम करते हैं, जो निरन्तर कृष्णनाम करते हैं और जिनका दर्शन करनेसे मुख से कृष्णनाम उच्चारित हों। वैष्णव, वैष्णवता और वैष्णवतमके तारतम्यानुसार उपयुक्त सेवा करना कर्तव्य है ।”

—जै० ध० द म अ०

२३—मंत्री, कृपा और उपेक्षामें क्या तारतम्य विचार करना उचित नहीं है ?

“मध्यमाधिकारी शुद्धभक्तका यही कर्तव्य है कि वे शाष्ट्र-युक्ति द्वारा ईश्वरके प्रति प्रेम, शुद्धभक्ति के प्रति मंत्री, बालिशके प्रति कृपा, द्वेषी व्यक्तिके प्रति उपेक्षा करेंगे। भक्ति तारतम्यानुसार मंत्रीका तारतम्य उपयुक्त है। बालिशकी मूढ़ता और सरलताके परिमाण अनुसारसे कृपाका तारतम्य उपयुक्त है। और द्वेषी-व्यक्तिके द्वेषके तारतम्यानुसार उसके प्रति उपेक्षा तारतम्य उपयुक्त है ।”

—जै० ध० द म अ०

२४—किस समय जीवका चिन्मय अहंकार उदित होता है ?

“जब जीव अपनेको शुद्ध चित्करणके रूपमें जानता है, तब स्वभावतः उसमें कृष्ण-दास्याभिमानरूप अहंकार उदित होता है। उस समय बुद्धि उसके शुद्धिवृत्तिस्वरूपमें अचित्का तिरस्कार कर चित्वस्तुकी प्रतिष्ठा करता है। उस समय जीवका कृष्ण-दास्य रूपी काम छोड़कर और दूसरा कोई काम नहीं रहता।”

—“लौत्य” स० तो १०।११

२५—वैष्णवोंका आचरण और लक्षण क्या है ?
“असत्सञ्ज्ञका त्याग करना ही वैष्णवोंका आचरण है और कृष्णनामैकशरण ही वैष्णवोंका लक्षण है।”

—‘असत्सञ्ज्ञ’ स० तो ११।६

२६—‘वैष्णव’ और ‘वैष्णवप्राय’ किन्हें कहा जा सकता है ?

“सेह नाम बद्धजीव श्रद्धा सहकारे।
शुद्धरूपे लइले ‘वैष्णव’ बलि तारे ॥
नानाभास जार हय, से ‘वैष्णव-प्राय ।
नाम-कृपा बले क्रमे शुद्ध भाव पाय ॥”

अर्थात् जब बद्धजीव श्रद्धाके साथ शुद्धरूपसे नाम लेता है, तब वह ‘वैष्णव’ कहलाता है। जिसका नानाभास हो, वह ‘वैष्णव-प्राय’ है और नाम-कृपा बलसे क्रमशः वह शुद्धभावको प्राप्त करता है।”

—‘नाम ग्रहण विचार’ ह० च०

२७—वैष्णवगण क्या शाक्त नहीं हैं ?

“वैष्णव लोग ही प्रकृत शाक्त हैं, वे चिच्छात्मि स्वरूपिणी श्रीराधिकाजीके अधीन हैं।”

ज० ध० ६ म अ०

२८—जगतका वास्तविक मंगल कौन करते हैं ?

“जागतिक उन्नतिमें यद्यपि जीवोंको विशेष लाभ नहीं है, तथापि भक्तजीवनकी आलोचना करने से यह देख सकते हैं कि जगतका जो कुछ मंगल होगा, वह केवल भक्तोंके द्वारा ही होगा।”

—च० श० ८, उपसंहार

२९—भक्तिके अनुचररूपसे वया-क्या गुण उदित होते हैं ?

“कृष्णभक्तिके साथ-साथ सब जीवोंके प्रति दया, निष्पापता, सत्यसारता, समदशित्व, देन्य, शान्ति, गाम्भीर्य, सरलता, मैत्री, फलदक्षता, असत् कथाके प्रति उदासीनता, पवित्रता, तुच्छकाम-त्याग, आदि सभी गुण अनायास ही उदित होते हैं।”

—‘सद्गुण और भक्ति’ स० तो ४।१

३०—यथार्थ, सम्पूर्ण और मंगलमय मनुष्य-जीवन क्या है ?

“भक्त-जीवन ही यथार्थ मनुष्य-जीवन है। यह सम्पूर्ण और मंगलमय है। यही जगतमें एक-मात्र वेकुण्ठ तत्त्व है।”

—च० श० ८, उपसंहार

३१—भक्त क्या अपनेको गुप्त रख सकते हैं ?

“भक्त जितना ही प्रतिष्ठाको घुणा क्यों न करें या जनसङ्गका परित्याग क्यों न करें, भक्ति-प्रभाके कारण वे किसीसे भी छिप नहीं सकते।”

—‘प्रबोधिनी कथा’, ह० च०

३२—वैष्णवका स्वभाव क्या है ?

“संसार जब तक भजनानुकूल है, तब तक वे अपने स्त्री पुत्रों आदिके प्रति अन्यन्त कोमल-हृदय रखते हैं। और जब संसार भजनका प्रतिकूल हो पड़ता है, तब वे कठिन हृदय होकर स्त्री-पुत्रादिके कन्दन करते-करते ही चिरजीवनके लिए ही बिदा ले लेते हैं।”

—‘वैष्णव-स्वभाव’ स० तो ४।११

३३—कमं और ज्ञानके संघर्षकालमें वैष्णवगण किस पक्षका अवलम्बन करते हैं ?

“कमंकाण्ड-ज्ञानकाण्डके युद्धमें वैष्णवगण निरपेक्ष-परिदर्शक हैं।”

—‘बुद्धगया’ स० तो ७।१

३४—किस समय ब्राह्मण वैष्णवतामें दीक्षित होते हैं, और किस समय उससे विच्छुति होती है ?

“जिस समय ब्राह्मण वेद-माता वैष्णवी गायत्री प्राप्त करते हैं, उस समयसे ही वे दीक्षित वैष्णव हैं। काल-दोपके कारण पुनः अवेदिक दीक्षा ग्रहण कर वैष्णवताका परित्याग करते हैं।”

ज० ध० १० म अ०

३५—श्रीगोराङ्ग महाप्रभुमें प्रीतिका मापदण्ड क्या है ?

“जिनका श्रीमन्हाप्रभुके प्रति जितनी ही प्रीति होगी, उतनी ही वे उनकी आज्ञा-पालन करनेकी चेष्टा करेंगे।”

—‘श्रीकृष्णनाम’ स० तो १।१५

३६—प्रकृत भक्तका क्या परिचय है ?

“अन्तरमें वैष्णवता और बाहरमें विषय रहने से मनुष्य भक्तोंकी श्रेणीमें गिने जाते हैं।”

—‘साधुवृत्ति’ स० तो १।११२

३७—वास्तविक साधु कौन हैं ?

“उन्हें ही केवल साधु कहा जा सकता है जो किसी भाग्यसे दूसरे साधुओंके सङ्गमें अपने आत्म-स्वभावको उदय करानेमें समर्थ हुए हैं।”

३८—वैष्णवोंका जन्म कमं क्या साधारण कर्मफलबाध्य जीवकी तरह है ?

“श्रीवैष्णवोंका आविर्भाव, क्रिया-कलाप—सभी कुछ ही मायिक कर्मफलके इच्छुक वृक्तियों को तरह होने पर भी वस्तुतः विपरीत है।”

—‘वैष्णवोंका वर्णाश्रम’ स० तो १।११०

३९—वैष्णवोंके साथ कर्मी और ज्ञानीका भेद क्या है ?

“भक्तोंके साथ कर्मी और ज्ञानियोंका बहुत बड़ा भेद है। कर्मी और ज्ञानियोंके साधनकालमें कर्म-ज्ञान है, और सिद्धिकालमें आत्मारामता या मुक्ति है। जो भक्त लोग साधनकालमें शुद्धा भक्ति का आचरण करते हैं, वे भक्ति-रसिक हैं। उन महत् भक्तित्ववादी व्यक्तियोंके सिद्धिकाल में वह

भक्ति ही कृष्णचरणारविन्द-मकरन्दरूप प्रेमस्व-
रूपा है।"

कृ० भा०, तात्पर्यनुवाद

४०—वैष्णवोंका क्या किसी प्रकार का बन्धन
और विनाश है?

"कृष्ण जिनके उद्धारकर्ता हैं, उनका कोई नाश
नहीं कर सकता, क्योंकि उनके ऊपर विधिका कोई
विक्रम नहीं है। विधि-बन्धन तो दूर रहें, भक्तोंका
प्रेम-बन्धन छोड़कर और कोई बन्धन नहीं है।"

—कृ० सं ५११२

४१—वैष्णवोंके आनुगत्यमें व्रजमें चलनेका
आर्त किस प्रकारका है?

"O Saragraghi Vaishnav soul !

Thou art an angel fair;
Lead, lead me on to Vrindaban
And spirit's power declare !!

There rests my soul from matter free

Upon my Lover's arms;

Eternal peace and spirit's love

Are all my chanting charms!!"

"अथर्ति है सारग्राही वैष्णव ! आप एक महान
आत्मा हैं। आप मुझे वृन्दावन ले चलें और आत्मा
की शक्तिकी घोषणा करें। मेरी जीवात्मा जड़
पदार्थोंसे मुक्त है और कृष्णके चरणोंमें अपित है।
नित्य शान्ति और आत्माका प्रेम ही मेरे लिए
लोभनीय वस्तु हैं।"

—'Saragraghi Vaishnava'

४२—सिद्ध और साधकका क्या स्वरूप है?

"गोपीभाव प्राप्त पुरुषोंको सिद्ध कहा जा सकता
है और जो व्यक्ति इस भावका अनुसरण करते हैं,
वे साधक हैं। अतएव परमार्थवित् पण्डितगण सिद्ध
और साधक—इन दोनों प्रकारके व्यक्तियोंका
अस्तित्व स्वीकार करते हैं।"

—कृ० सं ५११३

जगद्गुरु अविष्णुपाद श्रील भक्तिविनोद ठाकुर

सन्दर्भ-सार

(श्रीकृष्ण-सन्दर्भ-१४)

द्विभूज रूपके श्रेष्ठत्वके कारण श्रीब्रह्माजीने
चतुर्भुजरूप देखकर भी "नौमीङ्घ ते अभ्रवपुषे"
इलोकमें द्विभूज नराकार रूपका ही विशेषरूपसे
प्रतिपादन किया है। ब्रह्माजीके वचन—द्विभूज

नन्दनन्दन स्वरूप ही आपका परम तत्त्व है—वह
पहले न जाननेके कारण मैं भ्रान्त हुआ था, परन्तु
अभी समझ गया कि धनश्यामवरण, पीतवृक्षधारी
गुञ्जा करण्यभूषण और मस्तकमें मयूरपुच्छयुक्त रूप

ही आपका नित्य और श्रेष्ठ रूप है। “अद्यैव त्वदते-
तेऽस्य कि” आदि श्लोकोंमें उसका (नशाकृतिका)
मायामयत्व और अद्वयत्व प्रकाशित है।

चतुभुज और द्विभुज रूप दोनों ही ध्यानके
विषय होने पर भी देवकीजीने चतुभुज रूपको
गोपन करनेकी प्रार्थना की। उनका यह उद्देश्य था
कि श्रीहरि चतुभुज हैं—यह सर्वत्र प्रसिद्ध है। उस
रूपमें अवस्थान करनेपर सभी उन्हें पहचान सकेंगे।
वे कंसके शत्रु हैं। चतुभुज रूप देखने पर कंस भी
उन्हें अनायास ही पहचान लेगा और अपना शत्रु
जानकर अनिष्ट साधन करनेकी चेष्टा करेगा। नर-
शिशुरूप रहनेसे वह आशंका नहीं रहेगी। इसलिए
उन्होंने कहा—“जन्म ते मथ्यसी पापो मा विद-
यान्मधुसूदन”। अर्थात् हे मधुसूदन ! पापिष्ठ कंस
यह नहीं जान पावें कि मेरे द्वारा तुम्हारा जन्म
हुआ है। दूसरा कारण—

“विश्वं यदेतत् स्वतन्त्रो निशान्ते।

यथावकाशं पुरुषं परो भवान् ।

बिभृति सोऽयं मम गर्भंगोऽभूदहो ।

नूलोकस्य विडम्बनं हि तत् ॥”

अर्थात् आप परमपुरुष हैं। प्रलय कालमें
आपने अपने शरीरमें चराचर विश्वको असङ्गोव
भावसे धारण किया था। वही आप मेरे गर्भमें
जन्म ग्रहण किये हैं, यह मनुष्योंके लिए विडम्बना
स्वरूप है अर्थात् आप जैसे पुत्रको पानेसे मेरो
प्रशंसा होनी तो दूर रही, बल्कि लोकसमाजमें यह
उपहासका विषय होगा। लोग कहेंगे कि देवकीका
नया दुःसाहस है ! भगवानको अपना पुत्र कहकर

परिचय देती है ! उनका क्या मनुष्योंकी तरह जन्म
है ? जन्मके पहले सभी मातृगर्भमें वास करते हैं।
उन्हें क्या कोई उदरमें धारण कर सकता है ?
उनके ही उदरमें अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड असङ्गोच
रूपसे अवस्थित हैं। इसलिए ब्रह्माण्डवासिनी किसी
रमणीके उदरमें उनका अवस्थान असङ्गत है।
अनन्त ब्रह्माण्डधार विभु वस्तुको उदरमें धारण
किया है—ऐसा कहना पागलपनमात्र है। जीव
मायाशक्तिके अधीन होकर कभी जन्म लेता है, कभी
मरता है और कभी कर्मफल भोग करता है।
श्रीभगवानकी जन्मादि लीला वैसी नहीं है। वे
अपनी इच्छासे अपनेको साधारण लोगोंके सामने
प्रकाश करते हैं और कुछ काल प्रकट रहकर अद्भुत
लीला करनेके पश्चात् स्वेच्छासे ही अन्तर्दर्ढन होते
हैं। उनकी स्वरूपशक्ति द्वारा प्रकटित परिकरवर्ग
ही उनकी लीलाके सहाय हैं। लीलाके प्रारम्भमें यदि
वे अपनी इस ऐसी शक्तिको प्रकाश करते रहें, तो
मनुष्य उन्हें अपना समझकर ग्रहण करनेसे तो दूर
रहें, बल्कि ईश्वरं ज्ञान कर सर्वदा भयभीत होकर
तटस्थ होकर दूर ही अवस्थान करेंगे। वे लौकिक
लीलामें अलौकिकत्व प्रकाश करते हैं, उसीसे सभी
आकृष्ट होते हैं।

भगवानकी जन्मादि लीलाएँ स्वरूपशक्तिके
विलास हैं। भक्तके सिवाय उन्हें और कोई जान
नहीं सकता। लीलातत्त्वसे अनभिज्ञ ऐसे व्यक्तियों
को देवकीजीने ‘मांसदृक्’ कहकर पुकारा है। जो
व्यक्ति मांसमय प्राकृत नेत्रों द्वारा प्राकृतवस्तुका
दर्शन करते हैं, भगवानके अलौकिकत्वपर वे

विश्वास नहीं कर सकेंगे और वे देवकीजीका उपहास करेंगे। ऐसे लोगोंके निकट लजिजत होनेकी आशंकासे चतुर्भुजरूप गोपन करनेकी प्रार्थना की थी।

द्विभुज और चतुर्भुज दोनों रूपोंकी ही ध्यानकी बात श्रीगोपालतापनी श्रृंतिमें कहा गया है—

सतपुण्डरीकनयनं मेधाभं वेद्युताम्बरम् ।
द्विभुजं मौनमुद्राद्वयं वनमालिनमीश्वरम् ॥
गोपगोपीगवावीतं सुरद्रुमलताश्रितं ।
दिव्यालङ्घरणोपेतं रत्नपङ्खजमध्यगम् ॥
कालिन्दी-जलकल्लोलसङ्घ-माहतसेवितम् ।
चिन्तयंश्चेतसा कृष्णं मुक्तो भवति संसृतेः ॥

प्रशस्त पद्यतुल्य नयनद्वय, मेद्यकी तरह अंग-श्रृंति, विद्युतुल्य वस्त्र, द्विभुज मौनमुद्रायुक्त वन-माली ईश्वर, गोपगोपी और गौओं द्वारा परिवृत, वृन्दावनमें कल्पवृक्षके नीचे खड़े हुए उत्तम आभरणों द्वारा भूषित, रत्नपङ्खजके मध्यमें अवस्थित और निरन्तर यमुना जलतरङ्गसङ्घ-वायु द्वारा सेवित श्रीकृष्णको जो व्यक्ति चित्तद्वारा चिन्ता करते हैं, वे संसारसे मुक्त हो जाते हैं।

ऊपर कहे गए इलोकोंमें द्विभुजत्वका वरणन है। निम्नलिखित इलोकोंमें चतुर्भुजका वरणन है—

मथुरायां विशेषण मां ध्यायन् मोक्षमश्नुते
अष्टपत्रं विकसितं हृतपद्यं तत्र संस्थितम् ॥
दिव्यध्वजागाततत्रैस्तु चिह्नितं चरणद्वयम् ।
श्रीवत्सलाच्छनं हृतस्थं कोस्तुभं प्रभयायुतम् ॥

चतुर्भुजं शङ्खचक्षाङ्गपद्य - गदाभृतं ।
सुकेयूरान्वितं बाहुं कण्ठं मालामुशोभितम् ॥
चूमत्-किरीट वलयं स्फुरन्मकरकुण्डलम् ।
हिरन्मयं सौम्यतनुं स्वमक्षायाभयप्रदम् ।
ध्यायेन्मनसि मां नित्यं वेणुशृंज्ञधरं तु वा ॥

मथुरामें मेरे इस रूपका ध्यान करने पर शीघ्र मोक्षप्राप्ति होती है। मैं विकसित अष्टदल-स्वरूप हृतपद्यमें अवस्थित हूँ। दोनों चरण उत्कृष्ट छत्र आदि चिह्नोंसे चिह्नित हैं, वक्षमें श्रीवत्सचिह्न और प्रभायुक्त कीस्तुभमणि है, मेरा चतुर्भुज रूप शंख, चक्र, गदा, पद्मयुक्त है। दोनों बाहु अङ्गदद्वारा शोभित हैं, गलेमें माला है, मस्तकमें दीप्तिमान मुकुट है, कर्णमें मकर कुण्डल है। अपने भक्तोंके अभयप्रद सौम्यतनु—अथवा शृंज्ञवेणुधर द्विभुज मेरे रूपका ध्यान करें।

अतएव चतुर्भुज रूपका निगूढत्व प्रकाश करने के लिये ही देवकीजीने इस रूपको गोपन करनेकी प्रार्थना की है। श्रीभगवानने देवकीजीसे कहा—

एतद्वां दशितं रूपं प्राग्जन्मस्मरणाय मे ।
नान्यथा मङ्गवं ज्ञानं मत्यंलिङ्गेन जायते ॥

(भा १०।३।४३)

मेरे पूर्वतम जन्म स्मरण करनेके लिये ही मैंने अपने इस चतुर्भुज रूपका प्रदर्शन किया है। अन्यथा मनुष्य-चिह्नद्वारा मेरे आविर्भाव ज्ञान संभव नहीं होता। यहाँ स्पष्ट ही कहा है कि द्विभुज ही उनका स्वरूप है। अन्यत्र भी प्रयोजन विशेषसे चतुर्भुज प्रकट करनेकी बात सुनी जाती है।

इत्युक्त्वाऽसीद्विष्टुष्णी भगवानात्मायया ।
पित्रोः सम्प्रश्यतोः सद्यो बभूव प्राकृतः शिशुः ॥
(भा. १०।३।४६)

भगवान् हरि यह कहकर नीरव हो गये । दर्शनकारी पितामाताके सामने 'निजमाया' के द्वारा प्राकृत शिशु हुए । 'आत्ममाया' अर्थसे अपनी इच्छा से । 'प्राकृत'-प्रकृतिद्वारा व्यक्त । 'प्रकृति' अर्थसे स्वरूपका बोध होता है । वे स्वरूपसे व्यक्त होनेके कारण प्राकृत हैं । अर्थात् नराकार विग्रह ही उनका स्वरूप है । उस निज स्वरूपसे प्रकाशित होनेके कारण प्राकृत हैं, प्राकृत उपाधि-परिच्छिन्न होनेके कारण नहीं ।

प्राकृत शिशु हुए हैं—कहनेसे शिशुत्वधर्मके आविष्कारके कारण इस रूपको परिणामशील अर्थात् वाल्य-यौवन-वृद्धादि अवस्थाकी परिणाति द्वारा विकृत होनेकी आशङ्का उसमें नहीं है । भगवत्विग्रहमें शिशुत्व आदि विचित्रधर्म स्वरूप सिद्धरूपसे वर्तमान हैं । इसलिये इस इलोकमें लक्ष्मीजी की उक्ति स्पष्ट है—

को वेति भूमन् भगवन् परात्मन्
योगेश्वरोतीर्भवतस्तिलोक्याम् ।
कु वा कथं वा कति वा कवेति
विस्तारयन् कोऽसि योगमायाम् ॥

(भा. १० १४ २१)

हे भूमन् ! हे भगवान् ! हे परमात्मन् ! हे योगेश्वर ! त्रिलोकमें कौन व्यक्ति आपकी लीलाओंको जान सकता है ? आप कहाँ, कब और किस प्रकार से योगमायाका विस्तार कर कीड़ा करते हैं, वह भी अचिन्त्य है ।

श्रीमद्भगवत्गीतामें भगवानने कहा है—

यजोऽपि सञ्चव्यात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सत् ।
प्रकृति स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया ॥

मैं यज (जन्मरहित), अव्ययस्वरूप और भूतोंके ईश्वर होनेपर भी अपनी प्रकृतिमें अधिष्ठान कर आत्ममाया द्वारा जन्मग्रहण करता हूँ । इस इलोक की व्याख्यामें श्रीरामानुजाचार्य कहा है—अपने ही स्वभावमें अवस्थान कर आत्ममाया—अपने संकल्परूप ज्ञानद्वारा जन्मग्रहण करता हूँ । निर्घण्टकारने माया शब्दका 'ज्ञान' अर्थ लिखा है—माया वयुनं ज्ञानञ्च ।

महाभारतमें भी अवतार रूपका अप्राकृतत्व “न भूतसंघसंस्थानो देहोऽस्य परमात्मनः” इलोक द्वारा व्यक्त किया है । अर्थात् परमात्माका यह देह पञ्चभूत-समष्टि निर्मित देह नहीं है ।

वृहत्विष्णुपुराणमें कहा गया है—

यो वेति भौतिकं देहं कृष्णस्य परमात्मनः ।
म सर्वस्माद्बहिष्कार्यः श्रौतस्मात्तंविचानतः ॥
मुखं तस्यावलोक्यापि मनेलं स्नानमाचरेत् ।
पङ्क्येत् सूर्यं सृष्टोदगात्र धूतं प्राश्य विशुद्ध्यति ॥

जो व्यक्ति परमात्मा श्रोकुष्णके देहको पाच्च-भौतिक समझता है, श्रुति-स्मृति विधानके अनुसार वह सभी सत्कर्मसे बहिष्कृत अर्थात् महापतित है । उसका मुख दर्शन करने पर सबल स्नान, सूर्य-दर्शन, गो-स्पर्श और धूत (धी) पान कर शुद्ध होना चाहिये ।

(क्रमशः)

—त्रिदण्डीस्वामी श्रीमद्भवितभूदेव श्रीती महाराज

जीव-सेवा और जीविके प्रति दया

आजकलके अधिकांश व्यक्ति 'जीव-सेवा' और 'जीवोंके प्रति दया'—इन दो विषयोंकी पार्थक्यपर विचार नहीं करते। अधिकांश जगहोंमें 'जीव-सेवा' और 'जीवके प्रति दया' इन दोनों विषयोंके बैशिष्ट्य विचार अभावके कारण हम एक करने जाकर और कुछ कर बैठते हैं। जगतमें बहुतसे व्यक्ति 'मनीषी' 'उदारचेता', 'परोपकारी', 'समाजबन्धु', 'विश्व-बन्धु' आदि नामोंसे परिचित होने की कामना करते हैं, किन्तु वस्तु विचारके अभावके कारण उनके सभी कार्य वृथा परिश्रम साधित होते हैं। जगतके लोग देहारामी तथा अपनी सुख चेष्टा मन हैं। इसलिए यदि किसी व्यक्तिमें बिन्दुमात्र भी दूसरेके प्रति सेवा-प्रवृत्ति देखी जाती है, तो वही परम प्रशंसाका विषय हो जाता है। 'पर-सेवा' तो उत्तम है, परन्तु यदि पर-सेवा न होकर 'पर-छलना' हो तो वह कदापि प्रशंसनीय नहीं है। क्या 'छलना' के ऊपर 'सेवा' का 'लेवल' या 'ट्रैडमार्क' लगाकर बाजारमें किसी प्रकार चला देने से ही वह वास्तविक 'सेवा' होगी,—यह क्यों आजकलके विचार-परायण सम्य मानव समाज एकबार भाँ विचार करके नहीं देखते ?

'परसेवा', 'पर-उपकार' आदि शब्दमें यदि 'पर' शब्दसे 'थ्रेष्ट' 'या परमात्मा विष्णु' को लक्ष्य किया जाय, तो परमात्मा को सेवा या थ्रेष्टकी सेवा ही उचित जान पड़ती है। जीव 'पर' अर्थात् थ्रेष्ट होने पर भी अनर्थयुक्त अवस्थामें त्रिगुणोंद्वारा आवद है—

यथा संमोहितो जीव आत्मानं त्रिगुणात्मकम् ।
परोऽपि मनुतेऽनर्थं तत्कृतञ्चाभिपद्यते ॥

त्रिगुणात्मक मायाके द्वारा आवृत और विक्षिप्त चित्तयुक्त अनादि बद्धजीवकी सेवा अनर्थयुक्तावस्था में भोगमात्र है। 'सेवा' शब्दके साथ कुछ बातें अविच्छिन्नरूपसे संश्लिष्ट हैं। सबसे पहले 'सेवा' बोलनेसे यह देखना होगा कि जिस वस्तुकी 'सेवा' की जायगी, वह वस्तु विशेष 'सेव्य' या 'प्रभुतत्त्व' है या नहीं; दूसरा, 'सेवा' का अर्थ होता है सेव्यका अनुकूल सुखसाधन और तीसरा सेवकका अधिष्ठान।

त्रिगुणात्मक अनादि बहिमुख जीव क्या 'प्रभुतत्त्व' है? अनर्थयुक्त वस्तुका सुख-साधन क्या मङ्गलदायक है? और सुखसाधनकारी सेवकको इस कार्यसे वया लाभ है?—इन तीन प्रश्नोंका निरपेक्ष उत्तर देनेके लिए प्रवृत्त होने पर हम यह देखते हैं 'जीव-सेवा' नामक बात ही युक्तिसंगत नहीं हो सकती। जीव कदापि 'प्रभुतत्त्व' नहीं है—“मायाधोश, मायावश, ईश्वरे जीवे भेद ।” मायावश की सेवा अर्थात् इन्द्रियतर्पणमें सेव्याभिमान, सेवकाभिमान और सेवाभिमान—कोई भी बातें सार्थक नहीं हैं। लम्पट, दस्यु, जुआचोर, गधा, घोड़ा, वृक्षलता आदिकी सेवा कल्पना—मायावश जीवका भोगमात्र है। मायावश लम्पटको परखी, दस्युको दूसरेके अर्थादि जुटा देने पर उनका सुख साधन रूप 'सेवा' या 'भोग'की प्राप्ति होती है, किन्तु वैसा भोग दस्यु-लम्पटादिके लिए प्रीतिकर होने पर भी उससे उनका चिर अकल्याण और

साथ-साथ अन्यान्य जीवोंका पीड़न अनिवार्य है। इसलिए मायावश जीवकी सेवा या भोग जितना ही मनोरम क्यों न मालूम हो, उससे जीवपीड़न ही होता है। एक मायावश जीवके इन्द्रिय-तर्पण करने जाकर उस जीवविशेषका अकल्याण और उसके साथ-साथ बहुतसे जीवोंका पीड़न होता है।

‘जीव सेवा’ शब्द सम्पूर्ण अयोक्तिक है। जीवों के बद्धत्व-विचारसे ‘जीवके प्रति दया’ सम्भव है, और उनके मुक्तत्व विचारसे ‘वैष्णव-सेवा’ सम्भव है। अनर्थयुक्त बद्धावस्था का प्रीतिसाधन वास्तविक ‘सेवा’ शब्द वाच्य नहीं हो सकता। उसके प्रति ‘दया’ करना ही कर्तव्य है। मुक्तपुरुषोंके लिए ‘दया’ शब्दका प्रयोग नहीं हो सकता, उनकी ‘सेवा’ करना ही कर्तव्य है। ‘जीव-सेवा’ यह शब्द युक्तिसंगत नहीं है, परन्तु ‘शिव-सेवा’, ‘वैष्णव-सेवा’ या ‘गुरु-सेवा’—ऐसा कहना युक्ति संगत है। गुरु वैष्णवोंकी इन्द्रियतुमि या सेवा ही कर्तव्य है—मुक्तपुरुषोंकी सेवा और बद्धजीवोंके प्रति दया ही जीवोंका शुद्ध सनातन धर्म है।

मायावद्व जीव ‘प्रभु’ या ‘सेव्यतत्त्व’ नहीं हैं—यह विचार श्रवण कर कई व्यक्ति कपटताका आधय लेकर जीवको सेव्यतत्त्वरूपमें सजिज्ञ करने के लिए न्यूनाधिक बाउल मतके साथ ऐक्य स्थापन पूर्वक बढ़जीवको ‘नारायण’ कहनेका प्रयास करते हैं। जीव-नारायण, दरिद्र-नारायण, अश्व नारायण, मृग-नारायण, मनुष्य नारायण आदि नाम प्रदान कर ये सभी बाउल मतावलम्बी व्यक्ति जीवों की मायावद्वताको ही मायाधीश नारायणत्व सम-

भते हैं। देह और मन—इन दोनों जड़वस्तुओंके तर्पण को ही ‘नारायण-सेवा’ कहते हैं। दरिद्र—नारायण, मनुष्य-नारायण, मृग-नारायण आदि शब्द ‘सोनेकी पत्थरवाटी’ की तरह अयोक्तिक और अवैध हैं। जीवमें ‘नारायण’ या ‘ईश्वर’ नाम संयोग करनेसे ही वे प्रभुतत्व नहीं हो सकते, परन्तु वह केवल पाषण्डता है—

‘यस्तु नारायणं देवं ब्रह्मास्त्रदा दिदेवतेः ।
समत्वेनव बोक्षेत स पाषण्डो भवेद्ध्रुवम् ॥’

महाप्रभुजी ने कहा—

“जेइ मूळ कहे ‘जीव’ ‘ईश्वर’ हय सम ।
सेइ त पाषण्डी हय, दण्डे तारे यम ॥”

दरिद्रत्व नारायणत्व नहीं है, वह नारायणत्व का अभाव है। मृगत्व या मनुष्यत्व मायाधीशत्व नहीं है, वह मायावश्यता है। दरिद्रके अन्तर्यामी, पशुके अन्तर्यामी और मानवके अन्तर्यामी रूपसे नारायणका नित्य अधिष्ठान है। किन्तु दरिद्रत्व, पशुत्व या मानवत्वकी प्रतीतिमें नारायणत्व नहीं है। दरिद्रत्व, पशुत्व और मानवत्वरूप मायाका आवरण और विक्षेप-शक्तिका विक्रम दूर होनेसे ही अन्तर्यामी नारायणकी वास्तविक सत्ता और तदशभूत शुद्धजीवात्मास्वरूपका दर्शन होता है। ‘गुरु’ या ‘वैष्णव’ नारायणकी बहिरङ्गा शक्तिके विक्रम के बर्णाभूत नहीं हैं। इसलिए वे मुक्त, शुद्ध और नित्य हैं। उनकी नित्य सेवा करना ही हमारा कर्तव्य है। वे साधारण जीव-शब्द वाच्य नहीं हैं। बद्ध जीवोंका दर्शन करने पर उनके प्रति दया

करना चाहिए और मुक्तजीवोंको दर्शन करने पर उनकी सेवा करना चाहिए । महाभागवतका गो-ग्राहक-खर (गधा)—चंडालमें सर्वत्र सम या वैष्णव-दर्शन है । वे सभी को 'वैष्णव' जानकर सेवा करने में व्यस्त हैं । उनका दर्शन मायावादी या बाउलका 'दरिद्र--नारायण', 'मनुष्य--नारायण', 'मृग-नारायण' आदिकी तरह जड़ चिदारोप या कल्पनामात्र नहीं है । वे जीवात्माको नारायण कल्पना कर मायाके आवरण और विक्षेपात्मक वृत्ति परिणत किया-कलापकी अनित्य सेवा नहीं करते । उनका सेव्य-नित्य है, सेवा नित्य है, और सेवकाभिमान भी नित्य है ।

जो व्यक्ति 'जीव-सेवा', 'जीव सेवा' कहकर प्रलाप करते हैं, वे दरिद्र--नारायण, मनुष्य--नारायण, मृग--नारायणकी सेवा कल्पना कर संसारके अनभिज्ञ लोगोंके द्वारा महापरोपकारी, धर्मबोर या कर्मबीर कहलाकर प्रतिष्ठा पाना चाहते हैं । उनकी विद्या-बुद्धिकी पहुँच कहाँ तक है, उसका अनुसन्धान करने पर विचारशील व्यक्ति अनायास ही समझ सकते हैं । किन्तु माया विचारपरायण मानव-समष्टिके मनोषीको भी गतानुगतिकी तरह ऐसे मोहमें डाल देती है कि वे भी इन सभी साधारण विचारोंमें भ्रान्त हो पड़ते हैं ।

श्री भागवत धर्ममें जीव-सेवाकी बात नहीं कही गयी है । श्रीमद्भागवतमें तो 'श्रीहरि-गुरु-वैष्णव सेवा' और 'बद्ध-जीवोंके प्रति दया' की ही बात कही गयी है । भरत राजाके आदर्श द्वारा भागवतमें यह दिखलाया गया है कि महर्षि भरतने

मृग-जीवकी बद्धताकी सेवा करने जाकर आत्म-मंगलके मार्गमें रुकावट की ही सृष्टि की थी । भागवतमें ऐसी जीव-सेवाका नियेष किया गया है । भागवतका विचार है—

"ईश्वरे तदधीनेषु बालिशेषु द्विषत्सु च ।
प्रेममंत्रीकृपोपेक्षायः करोति स मध्यमः ॥"

"सर्वभूतेषु यः पश्येत् भगवद्भावमात्मनः ।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः ॥"

"स्यावर जङ्घम देखे, ना देखे तार मूर्ति ।
सर्वत्र स्फुरये तांर इष्टेव-मूर्ति ॥"

मध्यमाधिकारी उत्तमाधिकारी वैष्णवोंकी सेवा करेंगे । उनके सुख-साधनके लिए उनकी शुश्रुषा करेंगे । बद्धजीवोंके इन्द्रिय-तर्पण करनेकी 'चेष्टा नहीं करेंगे, क्योंकि उसके द्वारा अपना या दूसरे किसीका भी नित्य उपकार या मंगल न होगा अतएव हमें यह बात स्मरण रखनी चाहिए कि सम्बन्ध ज्ञानके साथ आत्मा की नित्यवृत्तिरूपी सेवा के एकमात्र पात्र श्रीहरि, गुरु और वैष्णव अर्थात् मुक्त, शुद्ध, वैकुण्ठ भगवत्स्वरूप और तदरूप वैभव हैं, 'जीव' या 'प्रधान' सेवाके पात्र नहीं हैं । स्वरूप-विस्मृतिके कारण या देहात्मबुद्धिके कारण देह और मनके द्वारा जो 'सेवा' होती है, वह जड़ेन्द्रिय-तर्पणमूलक भोगका ही नामान्तर है । भगवान् या तदरूपवैभवसे विमुख बद्धजीव और 'प्रधान' (माया) हो उस जड़ेन्द्रिय-तर्पणके पात्र हैं, शुद्धचेतन वैकुण्ठ वस्तु नहीं । ऐसे अत्यन्त कृष्णविमुख जीवोंको कृष्णोन्मुख करना ही उनके प्रति परम 'दया' है ।

'जीव सेवा'—यह बात कदापि सार्थक नहीं है। जीवके चिदनिद्र्य-वृत्तिर्याँ अचिदावृत चेतनके सुख या भोग साधनमें कदापि नियोज्य नहीं हैं, परन्तु निखिल चिदचिदवस्तुके ईश्वर और ईश्वरी को सेवा-सुख देनेमें ही सर्वदा उन्हें नियुक्त करना चाहिए। 'जीवके प्रति दया' और 'वैष्णव-सेवा' ही युक्तिसंगत और परमंगलदायक हैं। श्रीचंतन्य महाप्रभुजीने 'जीवके प्रति दया' और 'वैष्णव-सेवा' का आदर्श दिखलाया है। भगवत्कथा कीत्तनसे ही अनन्त बढ़जीवोंके प्रति अमन्दोदया दया होती है एवं कीत्तनकारी वैष्णवोंका सब प्रकारसे आनुकूल्य या प्रीति-विधान करनेसे ही हमारी आत्मवृत्ति की स्फुर्ति होती है। महाप्रभुने स्वयं ग्राम-ग्राममें भगवत्कथा प्रचार कर और उनके भक्तोंको प्रवारक-

रूपमें संस्थान कर जीवोंके प्रति अमन्दोदया दयाका आदर्श दिखलाया है। अनुकूल श्रीकृष्णपरायण वैष्णवोंकी सेवाका भी आदर्श दिखलाया है। स्मरण रहें कि हम श्रीमद्भागवत और महाप्रभुजी की शिक्षा का उल्लंघन कर आधुनिक मनोधर्म जात मतवादमें प्रमत्त होकर भगवत्सेवासे वंचित न हो जाय। 'जीव-सेवा' की बात सुनकर मायावादी, बाउल, प्राकृत सहजिया या चिज्जड़—समन्वयवादी होकर उत्पथ गामी न हो पड़े। 'जीवके प्रति दया' और 'वैष्णव-सेवा' ही हमारा आदर्श हो, और 'जीवके प्रति दया', 'नाममें रुचि' और 'वैष्णव-सेवन' ही हमारे मूलमंत्र हों।

(श्रीगौड़ीय पत्रिका से)

सनातन-धर्म

जीवके नित्यधर्मको ही सनातन धर्म कहते हैं। 'सदा-तन्' इति सनातन, तन्-शब्दार्थमें 'विस्तार' का बोध होता है। जो धर्म सदा-सर्वदा अर्थात् नित्यकाल विस्तार लाभ करता है, वही सनातन धर्म या वैष्णव-धर्म है। भगवान नित्य वस्तु है। जीव भी नित्य है, उसका धर्म भी नित्य अर्थात् सनातन है। इन तीनों तत्त्वोंका नित्यत्व जिसमें स्वीकृत हो, वही सनातन धर्म है।

इस सनातन-धर्मके ऊपर बौद्ध, जैन, इस्लाम, मायावाद, एवं ईसाई आदि अधर्मोंका आक्रमण हुआ है। वेद, वेदान्त, भारत, उपनिषद, और

श्रीमद्भागवत श्राद्धि पुराण ही सनातन धर्मके प्राण-स्वरूप हैं। नास्तिकवाद पोषणकारी धर्मयाजन-कारियोंने इन सभी शास्त्रोंको स्वीकार करते हुए विभिन्न अपधर्मोंको सृष्टि की थी। जनसाधारणको ईश्वर-विश्वासहीन कर पशुधर्ममें परिचालित करने में उन्हें कोई संकोच भी नहीं हुआ। पांच भौतिक गरीरको दुःख-निवृत्तिके पश्चात् मनुष्यको निर्बाण लाभ अर्थात् सुख-दुःख बोध रहित अवस्था कैसे प्राप्त होगी, मायावादियोंने इसके लिये चेष्टा की है। परन्तु यह चेष्टा विफल ही मिथ्य हुई है क्योंकि जब तक भगवत्-पादपथ प्राप्त नहीं होते, तब तक जीव

को त्रिताप ज्वालासे छुटकारा नहीं मिलता । बौद्ध जैनोंके ईश्वर विश्वासहीन केवलमात्र अहिंसावृति या अन्यान्य साधुवृत्तियों द्वारा श्रीकृष्णपादपद्मोंकी प्राप्ति नहीं होती । एकमात्र भगवत् सेवाके उद्देश्यसे सनातन धर्म या वैष्णव धर्म ग्रहण कर श्रीकृष्णकी सेवामें मनोनिवेश करनेसे जागतिक सभी प्रकारके अनित्य सुख और नानाप्रकाशके दुःख सहज ही दूर हो जाते हैं । गीतामें भगवानने कहा है— “यान्ति मज्याजिनोऽपि माम् ।” अर्थात् मेरे भक्त ही मेरे निकट जाते हैं और मुझे प्राप्त करते हैं । कर्म-ज्ञान-योगादियोंमें उपास्य, उपासना और उपासकके नित्यत्वको स्वीकार नहीं किया गया है । वे उनके मतानुसार जीव कर्मोंके फलानुसार सुख-दुःख भोग करते हैं और भले-बुरे कर्मोंके फलस्वरूप सुख-दुःख भोग करनेके लिये जन्म ग्रहण करते हैं । यदि वे निर्वाण प्राप्त करें, तो उनका पुनर्जन्म और नहीं होगा । जन्म न होने पर जागतिक दुःख कष्टसे छुटकारा पानेके लिए साधनका भी प्रयोजन नहीं रहेगा । इतना होने पर भी यह देखा जाता है कि अशोक और हर्षवर्द्धन तथा अन्यान्य राजाश्रोने भारत और भारतके बाहर बौद्धधर्मका प्रचार किया था ।

मध्ययुगमें इस्लाम मतावलम्बियोंने इस्लाम धर्मका प्रचार करनेके लिये तलवार ग्रहण करनेमें भी संकोच बोध नहीं किया । उस कालके मुसलमान राजाश्रोने नाना प्रकारके सुयोग सुविधाश्रोंका प्रलोभन दिखलाकर बहुतसे सनातन धर्मविलम्बियोंको इस्लाम धर्ममें धर्मन्तरित किया था । जब भारतवर्षमें अंग्रेजोंका अधिकार हुआ, तो उन्होंने

भी नाना प्रकारके सुयोग सुविधाश्रोंका प्रलोभन दिखलाकर कितने ही कोमल-हृदय व्यक्तियोंको धर्मन्तरित किया था । ये सभी धर्म अनित्य और और ध्वंसशील हैं । क्योंकि इन सभी धर्मोंकी सृष्टिके बारेमें हम अवगत हैं । जिस धर्मकी सृष्टि हो, उसका विनाश भी अनिवार्य है । अतएव बौद्ध, इस्लाम, जैन और ईसाईयों आदिके ध्वंसशील धर्म जीवके नित्य धर्म नहीं हैं । परन्तु सनातन धर्मका जन्म नहीं है, इसलिये वह जन्मरहित और नित्य है । यह अनादि है क्योंकि इस धर्मके जन्मकालको कोई भी निर्द्वारित नहीं कर सकते । उपरोक्त वेद-विरोधी तथा शास्त्रविरोधी धर्मसमूहोंका आक्रमण होने पर भी सनातन-धर्म अपने स्थानमें यथार्थरूपमें गौरवके साथ वर्तमान है ।

आचार्य शंकर द्वारा प्रचारित अद्वैतवाद मायावादके नामसे परिचित है । शंकराचार्यने वेदको नाममात्रके लिये स्वीकार किया है क्योंकि उनके दर्शनमें वेदका एकांशमात्र विचारित हुआ है । उन्होंने अपने ब्रह्मवादमें ब्रह्मको निराकार, निर्विकार, निःशक्ति, निर्गुण, निर्विशेष आदि कहा है । यह ब्रह्मवाद कदापि सनातन-धर्मका अनुकूल नहीं है । क्योंकि ब्रह्मका निराकारत्व, निर्गुणत्व इत्यादि ‘नेति नेति’ वादको शुद्ध वेदान्तिकगण सनातन धर्मके अंगके रूपमें स्वीकार नहीं करते । श्रीशंकराचार्यजीने वेदके मुख्य स्वाभाविक अर्थका परित्याग कर विपरीत अर्थका प्रचार कर बहुतसे भारतवासियोंको अपने स्वकपोल-कल्पित पथमें ले जानेका प्रयास किया । सनातन धर्ममें ईश्वरके नाम, रूप, गुण और लीला—ये चारों स्वीकृत हैं ।

भगवानके प्रति सेवाधर्म ही सनातन धर्म या वैष्णव धर्म है। जो व्यक्ति भगवानके नाम-रूप-गुण-लीलाओं को अस्वीकार कर भगवानको निराकार, निविकार, निगुण और निःशक्तिक कहकर प्रचार करते हैं, उन्हें सनातन धर्मविलम्बी व्यक्ति बास्तविक हिन्दु स्वीकार नहीं करते। मुसलमान, इसाई आदि विग्रह-विरोधी हैं। वे हमारे लिये अस्पृश्य हैं। श्रीचंतन्य महाप्रभुजीने कहा है—

काशीते पड़ाय बेटा प्रकाशानन्द ।

सेइ बेटा करे मोर अङ्ग खण्ड खण्ड ॥

(चै. भा.)

भगवानके निराकारवादका चिन्तास्रोत बहुतमें अपधर्मोंके अन्दर वर्तमान है। किंतु उनके धर्म-ग्रन्थोंमें भी ईश्वरके साकारत्वका स्पष्ट संकेत है। मुसलमानोंके कुरानमें देखा जाता है—“इनना लाहा खालाका मेन् मुरातिहि”। अर्थात् “खुदाने अपने रूपकी तरह मनुष्यकी सृष्टि की है”। इसाईयोंके Bible में लिखा है—“God created men out of his own image” इसलिये प्रत्येक धर्मग्रन्थ में ही भगवानकी नराकृति स्वीकृत हुई है। वैष्णव लोग भगवानके नरहृपको ही स्वयंरूप और मौलिक परतत्वके रूपमें स्वीकार करते हैं।

ईश्वरके नाम, रूप, गुण और लीलाके अस्वीकार करनेका तात्पर्य है—ईश्वरको अस्वीकार करना। जिस धर्म में ईश्वरके नाम, रूप, गुण और लीलाको स्वीकार नहीं किया गया है, वह सनातन धर्म या भागवत धर्म नहीं है।

श्रीशंकराचार्यके मायावादमें जिस मुक्तिकी

बात कही गयी है, वह बास्तविक मुक्ति नहीं है। वह एक प्रकारकी जडत्व प्राप्तिमात्र है। मायावादी जीवको ही ब्रह्म कहते हैं। ‘अविद्या मायाग्रस्त होनेके कारण जीव-सत्ता पृथकरूपमें प्रतीत होती है। जीव जब पुनः ज्ञानसाधनसे सिद्धि प्राप्त करेगा, तब जीवसत्ता नष्ट हो जायगी और जीव ब्रह्ममें लय हो जायगा।’ ऐसा सिद्धान्त एकप्रकारकी आत्महत्यामात्र है। इसमें जीवका कोई पृथक् अस्तित्व नहीं रहता। ऐसी अवस्था-प्राप्तिको मुक्ति माननेसे कोई सार्थकता नहीं है। उदाहरणके लिये सभी मिश्रीका आस्वादन करना चाहते हैं, परन्तु कोई मिश्री बनना नहीं चाहते। मिश्री खानेमें ही आनन्द है, मिश्री होनेमें नहीं। भगवानकी सेवा करनेसे ही आनन्द प्राप्त होता है। निविशेष ब्रह्ममें अपनी सत्ता लोप करनेसे प्रस्तरवत् हो जाना होगा। उनमें कोई सेवानन्द नहीं है, वह एक आत्महत्यामात्र है। वयोंकि निविशेषत्व प्राप्त करनेसे अनुभव शक्ति नहीं रह जाती। इसलिये जड़की तरह हो जाना हुआ—चंतन धर्मका लोप हो गया। संसारमें देखा जाता है कि जो व्यक्ति आत्महत्या करनेकी चेष्टा करते हैं, पुनिस द्वारा पकड़े जाने पर सरकार उन्हें जेलमें भेज देती है। वयोंकि वे आत्मविरोधी हैं, समाज-द्रोही पापी हैं। उसी प्रकार भगवत्सेवा विमुख होकर जो व्यक्ति अपनी सत्ताको लोप कर अनुभव-रहित प्रस्तर (पत्थर) की तरह होना चाहते हैं, वे धर्म जगतमें अपराधी होकर जन्म-जन्मान्तरमें भयड़ुर नरक-यन्त्रणा भोग करते हैं। इसलिये मायावादी लोग ईश्वर - अपराधी हैं। वे (शंकराचार्य) सनातन धर्मके प्रचारक थे—ऐसा कहा नहीं

जा सकता। मायावादी लोग केवल मात्र मुख से वेद स्वीकार करके भी वेद-विरोधी बोहू हैं। वे केवल यही कहते हैं कि शंकराचार्य बीड़ोंका विताइन करनेके लिये ही आविभूत हुए थे। मायावादियोंको तरह दयानन्द सरस्वतीद्वारा प्रवर्तित आर्यसमाजमें भी नाममात्रको वेद स्वीकार करते हुए नाना अशास्त्रीय वेदविरोधी कार्योंको करते देखा जाता है। इनकी प्रचारधारा शंकराचार्यके विचारकी तरह जान पढ़नेपर भी थोड़ा सा पार्थक्य अवश्य है। इन विभिन्न अपधर्मरूपों कुधर्मके प्रादुर्भाव होने पर भी सनातन वैष्णव-धर्म आज तक अपनी विजय पताकाको उत्तोलन किये हुए हैं। इसका विनाश कदापि न होगा।

श्रीश्रीराधाकृष्णकी गुगल-उपासना ही सनातन धर्म या वैष्णव-धर्म है। इस धर्ममें उपास्य, उपासना, और उपासना—तीनों ही नित्य हैं। श्री-श्रीराधाकृष्णकी नाम-रूप-गूण-लीलादिका वर्णन और उनकी सेवा-प्रीति ही सनातन धर्म या वैष्णव-धर्मका मूल प्रतिपाद्य विषय है। जिस धर्ममें इस प्रतिपाद्य वस्तुका नित्यत्व नहीं माना गया है, वह कुधर्म है। वेद, वेदान्त, उपनिषद्, महाभारत, और इतिहास पुराणादिका विद्य-वस्तु ही सनातन धर्म का प्रतिपाद्य विषय है। यह सनातन धर्म ही हमारे लिए एकमात्र ग्रहणीय और पालनीय है। जो धर्म जिस परिमाणमें सनातन-धर्म या वैष्णव-धर्म के अनुगत है, वह धर्म उसी परिमाण में हमारे लिए ग्रहण करने योग्य है। स्वयं भगवान परम अवतारी श्रीचंतन्य महाप्रभुने बङ्गदेशमें श्रीधाम नवद्वीप मायापुरमें आविभूत होकर जिस प्रेम-धर्मका

प्रचार किया है उसीमें सनातन धर्मके सभी प्रतिपाद्य विषयोंका अस्तित्व है। श्रीचंतन्य महाप्रभु द्वारा प्रचारित विमल प्रेम धर्म ही सनातन धर्म है। इसलिये श्रीश्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरने कहा है—

“आराध्यो भगवान् व्रजेशतन्यस्तद्वाम वृन्दावनं
रम्या काचिदुपासना व्रजवधुवर्गेन या कल्पता ।
श्रीमद्भागवतं प्रमाणमपलं प्रेमा पूमर्वो महान्
श्रीचंतन्यमहाप्रभोर्मन्मिदं तत्रादरो नः परः ॥”

अथवा स्वयं भगवान नन्दनन्दन श्रीकृष्ण और उनकी लीलास्थली वृन्दावन ही हमारे लिये आराध्य हैं और व्रजके गोपियोंने जिस पद्धतिसे श्रीश्रीराधाकृष्णकी उरासना की है, वही हमारे लिये ग्रहणीय तथा पालन करने योग्य है। एकमात्र विमल पुराण श्रीमद्भागवत ही उसका प्रमाण है। यही श्रीचंतन्य महाप्रभुका मत है और हमारे लिये एकमात्र आदरणीय है।

श्रीचंतन्य महाप्रभु जिस विमल प्रेमधर्मका जगतमें दान करने आये थे, वह पहले और किसी अवतारमें दान नहीं किया गया था। यह प्रेमधर्म अत्यन्त गृह और तत्त्वपूर्ण है। इस प्रेमधर्मको समझनेके लिये उक्त पौर श्रेष्ठ बुद्धिकी आवश्यकताहै। श्रीचंतन्य महाप्रभुको प्रेमकी बाढ़में प्रचुर व्यक्ति निमिज्जत हुए थे। किन्तु आजकल विदेशी भावधारासे नवीन शिक्षित व्यक्ति कृशिका पाकर बिलकुल ईश्वर विश्वासहीन हो पड़े हैं और उनकी बुद्धि भी विकृत हो गयी है। आजकल भारतवासियोंकी ऐसी दुर्दशा है। भारतवर्ष धर्म-प्रधान

देख है। ईश्वरोन्मुखी होकर भगवानकी सेवा करने पर ही भारतवासियोंका वास्तविक कल्याण हो सकता है। धर्मविश्वास न रहनेसे भारतका धर्म स अनिवार्य है।

हम अंग्रेजी व्याकरणमें साधारण भूल या Common Errors से परिचित हैं। बंगालमें 'अश्व डिम्ब' शब्दका प्रयोग होता है। किन्तु अश्व डिम्ब (घोड़ेका अण्डा) कहनेसे कोई अर्थ नहीं निकलता। धर्मजगतमें उसी प्रकारके कुछ Common Errors वर्तमान हैं। कुछ ऐसे कर्म हैं जो धर्मकी तरह जान पड़ने पर भी वास्तवमें धर्म नहीं हैं। वर्तमान समयमें दान करना, वृक्षादि रोपण करना, कुआँ खोदना, दरिद्र व्यक्तियोंकी देखभाल आदि ही धर्म माने जाते हैं। परन्तु इन सभी कर्मोंमें भगवन् सेवालाभ या मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती।

श्रीमद्भगवत्गीतामें कहने हैं—

ते तं भक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीरो पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।
एवं अदीधर्मं मनुप्रपन्ना
गतागतं कामकामा लभन्ते ॥

अर्थात् मनुष्य इन सभी पुण्यादि कर्मोंके फलमें स्वर्गसुख प्राप्त करता है; किन्तु स्वर्गमुखके अय हो जौने पर पुनः त्रिताप ज्वालाको भोग करनेके लिये मर्त्यलोकमें आना पड़ता है। इसलिये दान-पुण्यादि शुभ कर्मोंद्वारा मनुष्योंको चिरशान्ति या पराशान्ति नहीं मिलती। शास्त्रोंका कहना है कि परम शान्ति के निकेतन स्वरूप भगवानका भजन करनेसे ही

परम शान्ति मिलती है। श्रीमद्भगवत्गीतामें भगवान कहते हैं—

सर्वधर्मानि परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।

सब धर्मोंको (अनित्य धर्मोंको) तथा अधर्मको त्यागकर भगवान श्रीकृष्णके शरणागत होने पर ही सनातन धर्मका पालन होगा और परम शान्ति मिल सकती है। निखिल शास्त्र चूडामणि श्रीमद्भागवत में यह बतलाया गया है—

स वे पुंसां परोधर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे ।

अहैतुक्यप्रतिहता यथात्मा सुप्रसीदति ॥

धर्मः स्वनृष्टिः पुंसां विश्वक्सेन कथासु यः ।
नोत्पादयेत् यदि रति श्रम एव हि केवलम् ॥

जिस धर्मका याजन करनेसे अतीन्द्रिय वस्तु श्रीभगवान अचोक्षज हरिके प्रति निन्यभक्ति हो, उसे ही वास्तविक धर्म या कैतवशून्य धर्म, सनातन धर्म या भागवत धर्म कहते हैं। उस धर्मका पालन करना ही हमारा एकमात्र कर्तव्य है। इसीसे भगवानकी प्राप्ति होगी। जिस धर्मके द्वारा कृष्ण-भक्ति या परमशान्ति प्राप्त न हो, उस धर्मका जितना ही सम्यक् रूपसे पालन क्यों न किया जाय, वह 'रेतीको पीसकर तेल निकलने' की तरह वृथा परिश्रम मात्र है। श्रीभक्तिरसामृतसिन्धुमें श्रीश्रील-रूप गोस्वामी प्रभुने वहा है—

अन्याभिलाषिता शून्यं ज्ञान-कर्माद्यनावृतं ।

आनुकूल्येन कृष्णानुगोलनं भक्तिरत्नम् ॥

अभेद ब्रह्मानुसन्धानरूप ज्ञान और स्मार्तं क्रिया कर्मादि द्वारा अनावृत, अन्याभिलाषितारहित,

आनुकूल्य भावके साथ कृष्णानुशीलन करना ही उत्तमा भक्ति है । एकमात्र भक्तिद्वारा ही भगवान् को पाया जा सकता है—

भक्तिरेवेनं नयाति भक्तिरेवेनं दर्शयति
भक्तिवशो पुरुषो भक्तिरेव भूयसीति ।

अर्थात् भक्ति ही भक्तको भगवद्वाममें ले जाती है और भगवानका दर्शन कराती है और भक्तिद्वारा ही भगवानके प्रति प्रीति होती है और भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ है । साधारण शब्दोंमें भगवानकी प्रीतिके लिए जो किया जाय, वही भक्ति है । इस भगवत् सेवामय सनातन धर्म या वैष्णव-धर्मका पालन करने से ही परमानन्दकी प्राप्ति होती है ।

भगवानकी सेवा कर जो अप्राकृत आनन्द होता है, वह भगवत्-सेवाकारी व्यक्ति ही जानते हैं, दूसरे जाननेमें समर्थ नहीं हैं । क्योंकि यह उपलब्धि-सापेक्ष है, भाषाके द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता । पुत्रकी सेवा-शुश्रूषा करनेसे माताको जो आनन्द होता है, वह बन्ध्या खी (सन्तानहीन खी) केसे जान सकती है ? इसलिये भगवानकी सेवा

करनेकी ही पहले आवश्यकता है । सेवा करते-करते ही आनन्दकी उपलब्धि होगी ।

इसलिये 'धर्म-पालन करनेसे क्या होगा ?' ऐसा तक उठाना वृथा है । धर्म पालन करनेसे ही भले-बुरेका विचार होगा । नहीं तो 'जलमें नहीं उत्तरूँगा' और 'तैरना सीखूँगा'—ऐसी वृथा चेष्टा का कोई मूल्य नहीं है । हम कृष्णके दास हैं, इस लिये कृष्णकी सेवा करना ही हमारा नित्यधर्म या सनातन धर्म है । इस धर्ममें ही उपास्य, उपासना और उपासकका नित्यत्व है, दूसरे धर्मोंमें नहीं । इसलिए एकमात्र सनातन धर्म ही नित्य धर्म है—

पृथि शीते येत कथा धर्म नामे चले ।

भागवत कहे ताहा परिपूर्ण छले ॥

(च. च.)

अर्थात् श्रीमद्भागवतका कहना है कि एकमात्र केंतवशून्य भागवत धर्म या सनातन धर्म ही धर्म है, और सभी छलधर्म हैं ।

—श्रीगौड़ीय पत्रिकासे अनूदित

सम्राट् कुलशेखरकी प्रार्थना

श्रीवल्लभेति वरदेति दयापरेति
भक्तिप्रियेति भवलुण्डत-काविरेति
नायेति नागशयनेति जगन्निवामे-
त्यालापनं प्रतिगदं कुरु मे मुकुन्द ॥

“हे भगवन् मुकुन्द ! आप मेरे प्रति ऐसी कृपा करें जिससे कि मैं प्रतिक्षणा या प्रतिमूढ़त्त ही ‘हे श्रीवल्लभ, हे वरद, हे दयापर, हे भक्तिप्रिय, हे भव-समुद्र-पारिन्, हे जगन्नाथ, हे शेषशायी, इत्यादि नामोंसे आपको पुकार सकूँ ।”

श्रीचंतन्य महाप्रभु द्वारा प्रचारित भागवत-भर्त्यका मूल नाम-पञ्चन है। सम्राट् कुल-शेखरजीने उसी निर्देशके अनुसरणमें श्रीमुकुन्दके पादपद्मों में शरणागति प्रार्थना की है। भगवत्भाव से विभावित, भगवत्-प्रेममें मग्न भक्त भगवानकी महिमा कीर्तनके द्वारा ही भगवानका दर्शन करते हैं। अपराध रहित शुद्धनाम कीर्तनके द्वारा श्रुति-माध्यमसे जो भगवत् दर्शन होता है, वही शुद्ध भगवत् साक्षात्कार है। भगवत् साक्षात्कार रूप विशुद्ध आनन्दाम्बुधिमें स्थित होकर जो अवस्था प्राप्त की जाय, उसकी तुलनामें ब्रह्मानन्द, जो जगत्के सभी प्रकारके आनन्दसे अनेक श्रेष्ठ है—गोष्ठदके जलके बराबर है। समुद्रके साथ तुलनामें गोष्ठद-जल नगण्य है।

भगवान् एवं साधुको दर्शन करनेके लिए कान ही एकमात्र साधन है। जड़-इन्द्रियोंके द्वारा भग-

वानके नाम, रूप, गुण, लीला और परिकर वैशिष्ट्य आदिका कुछ भी अनुभव प्राप्त नहीं होता। उपाधिमुक्त इन्द्रियाँ भगवानकी सेवा द्वारा निर्मल होने पर भगवानको देखा जा सकता है, समझा जा सकता है। इस उपाधिग्रस्त अवस्थासे क्रमोन्नति प्राप्त करनेके लिए भगवत्-कीर्तन ही उपाय और उपेय है। इसलिए भगवानके भक्त सर्वदा ही भगवानकी महिमायुक्त अप्राकृत नाम-गुणादिका कीर्तन करते हैं। भगवानके नाम-रूप-गुणादिका कीर्तन करते-करते जो सभी प्रेम-लक्षण उद्दित होते हैं, वे सभी अप्राकृत हैं और लोकापेक्षा न रखकर स्वाभाविक रूपसे उद्दित होते हैं। श्रीमद्भागवतमें (११। २४० में) कहते हैं—

एव त्रायः स्वप्रियनामकोट्या जातानुरागो द्रुतवित्त-उच्चैः ।
क्षसत्ययो रोदिति रोति गायत्यु-मादवन्त्यति
लोकबाह्यः ॥

अतएव भगवत्-प्रेम प्राप्त करनेका एकमात्र उपाय निरपराध होकर भगवत् नाम—गुणादियों का कीर्तन है। कलियुगमें यही एकमात्र धर्म है और महावदान्य मूर्ति श्रीचंतन्य महाप्रभु इसीके आश्रय हैं। सम्राट् कुलशेखरने भी उसी प्रकार महाजनोंका पथानुसरण कर भगवानका वैभव प्रकाश किया है। हम भी उनका पथानुसरण कर भगवानकी महिमाको आस्वादन करनेकी चेष्टा करेंगे।

भवरोगी यह समझ नहीं सकते कि इस भवरोगको दूर करनेके लिए सबसे श्रेष्ठ श्रीष्ठ व्यय है ? इसलिए वे मायाके बैभव जड़विद्या या जड़विज्ञानके सर्वोच्च शिखरमें उठकर भी जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधिका निवारण करनेमें असमर्थ हैं । इसलिए ऐसे असमर्थ व्यक्ति नाम-कीर्तनकी भी महिमा उपलब्धि नहीं कर पाते । पित्त रोगी जिस प्रकार मिश्रीका आस्वादन करनेमें असमर्थ है, उसी प्रकार भोगी और त्यागी रूपी पित्तरोगी नामका निगृहरस आस्वादन कर नहीं पाते । वे नाम और नामी अभिन्न हैं—यह नहीं जानते ।

नामचिन्तामणिः कृष्णचैतन्य-रस विश्रहः ।

पूर्णः शुद्धो नित्यमुक्तः । भिन्नत्वान्नाम नामिनोः ॥

(प० २० मि० प० २० २४ ल० १०८)

परन्तु ऐसे विषयाविष्ट पित्त-रोगीके उद्घारके लिए नाम-कीर्तनरूप मिश्री ही एकमात्र महीषधि है । इसीको समझाने के लिए साधु-गुरु-वैष्णव सर्वदा ही नाम-कीर्तन करते हैं और उस नामकीर्तन के द्वारा सारे जगतका कल्याण करते हैं । सम्राट् श्रीकुलशेखरजी वैसे नामकीर्तनकारी महाजनोंमें से एक हैं । जैसे मिश्रीके रसके द्वारा पित्त रोग दूर होता है, उसी प्रकार हरि कीर्तनके द्वारा ही जागतिक पित्त-रोग दूर होगा । सम्यक् हरिकीर्तनके अभावमें—हरिकीर्तनकी छलना करनेसे हम आप ही विवदमान जगतके विषयी हो पड़ते हैं । सारा जगत ही कलिके प्रभावसे विवादयुक्त है । इसलिए ऐसी मनोवृत्तिको दूर करनेके लिए सम्राट् कुलशेखरजीने 'मुकुन्दमाला-स्तोत्र' की रचना की है ।

जड़ विद्यापटु जन साधारण, आध्यक्षिक दार्ढनिक, या यशस्वी घर्मयाजी—ये सभी ही मायाकी त्रिताप ज्वालामें मोहित हो रहे हैं । परस्परके विवादोंको दूर करनेके बहुतसे उपाय रहने पर भी श्रीचेतन्यमहाप्रभु द्वारा प्रवर्तित कलियुगोचित हरिकीर्तन ही भव-महादावानिको शान्त करनेका एकमात्र उपाय है । परमेश्वर भगवान परम सत्य वास्तव वस्तु है । इसलिए वे और उनके नाम-धाम-परिकरादि सभी कुछ ही निरस्तकुहक अद्वयज्ञान चिन्मय वस्तु हैं । अतएव उस भगवानके स्वीय अनन्त शक्ति सम्पन्न नाम-गानादिका अनुक्षण निरपराध कीर्तन करनेसे अनुशङ्गा भगवानका ही सञ्ज प्राप्त होता है । उस श्रेष्ठ अप्राकृत भगवत्-सञ्जके प्रभावसे कीर्तनकारीमें नित्यसिद्ध पचास गुणोंका उदय होता है । जीवके व्यक्तित्व और व्यक्तिगत सदगुणोंका आविभवि होनेसे जीव देवताकी तरह बन जाता है और क्रमशः जीव भगवानका नित्यपार्षदत्व तक प्राप्त कर सकता है । अतएव कलियुग में मन्दगति, मन्दभाग्य, मन्दमति, जीवोंकी वास्तविक शान्तिके लिए एकमात्र उपाय है—श्रीचेतन्यमहाप्रभु द्वारा प्रवर्तित हरि-कीर्तन ।

सम्राट् कुलशेखरजी शुद्धभक्त हैं । उन्होंने जिस 'मुकुन्दमाला-स्तोत्र' की रचना की है वह हमारे 'कीर्तनीयः सदा हर्षः' का एक सुगन्धित पुण्ड है । उन्होंने स्वयं कीर्तन कर अनुभव द्वारा जिन सभी शब्द-ब्रह्मको एकत्रित किया है, वे हमारे लिये अत्यन्त उपकारी हैं । वे महाजन हैं, अतएव उनका पदानुसरण कर हम नित्यकाल ही 'मुकुन्द-माला

खोत्र' का कीर्तन करना चाहिये । ऐसे कीर्तन द्वारा हम कमशः भगवद्भाव या प्रेम प्राप्त वर सकेंगे ।

उन्होंने पहले ही भगवानको 'श्रीबल्लभ' कहकर सम्बोधन किया है । 'श्री' शब्दसे 'लक्ष्मी' या समस्त रूपोंके आलय-स्वरूपा जो हैं—प्रथात् उनकी अत्यन्त प्रिय स्वरूप-शक्ति ही नित्यानन्द, चिन्मय-विग्रह भगवानकी अत्यन्त प्रिय-संज्ञिनी होकर श्रीश्रीराधारानी, श्रीश्रीसीतादेवी, श्रीश्रीलक्ष्मीदेवी, द्वारकामें महिषीगण और श्रीधाम वृन्दावनमें गोपी-स्वरूप हैं । वे भगवानकी अत्यन्त प्रिया हैं । ये सभी लक्ष्मीगण अपनी अनुपम शोभा और रति भगवानमें अर्पण करते हैं, जो प्राकृत-दृष्टिसे काम जैसे दीखने पर भी अप्राकृत अनुभूतिगम्य शुद्ध हेम-स्वरूप कृष्ण-प्रेम है । उन सभी लक्ष्मयों द्वारा परिवेषित होकर अनन्त चिदाकाशमें विभिन्न और अनन्त वेकुण्ठलोकमें भगवान विभिन्न लीलाएँ करते हुए सपांचद नित्य-वर्तमान हैं एवं सर्वोपरि स्थिति श्रीगोलोक वृन्दावनधाम या कृष्णलोकमें वे आदिपुरुष गोविन्द शतसहस्र कामधेनु और लक्ष्मयोंद्वारा सम्भ्रमके साथ सेवित होकर चिन्तामणिमय भूमिमें कल्पवृथसमूहकी द्यायामें नित्य वर्तमान हैं । श्रीब्रह्मासंहितामें कहते हैं—

विन्तामणि प्रकरुद्यमुक्त्यवृक्षलक्षा-

वृतेषु सुरभीरभिरलयन्तम् ।

लक्ष्मी-सहस्र-शत संभ्रम-सेव्यमानं

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥

भगवान् मुकुन्द आनन्द-चिन्मय रसका विस्तार कर ह्लादिनी शक्ति द्वारा लक्ष्मयोंके प्रिय या 'श्री'

'बल्लभ' हैं । श्रोबल्लभ कहनेका तात्पर्य यह है कि उनके आनन्द-चिन्मयरस-विग्रहकी विपरीत कल्पना रूप निर्विशेषवादका निराकरण करना । प्राकृत कल्पनामें विभोर अल्पबुद्धि आध्यक्षिक दार्शनिकगण श्रोबल्लभका अर्थ समझनेमें असमर्थ हैं । वे अल्प-मेधाके द्वारा भगवानकी सर्वशक्तिमत्ता या षड्देशवर्य-पूर्णताका अनुभव कर नहीं सकते । आनन्द-चिन्मय रसका जड़रसके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है । भगवान प्रकृतिसे परेमें सनातन धाममें नित्यकाल सचिच्चिदातन्द विग्रह स्वरूपसे सर्वकारणोंके कारणरूपसे नित्यकाल वर्तमान हैं । प्राकृत वैचित्र्य सभा अनित्य है, क्षणिक है और मिथ्या है । वे वेकुण्ठ-जगतगत वैचित्र्यके विकृत प्रतिफलनमात्र हैं । प्राकृत वैचित्र्य मिथ्या है, परन्तु चिद्देवित्र्यरूप परिकर-वैशिष्ठ्यादि निरस्तकुठक परमसत्य हैं और उस परमसत्यके अनन्त प्रकारके चिदेशवर्यमें श्री बल्लभत्व एक है ।

चिदेशवर्य सम्पन्न भगवान ही एकमात्र 'वरद' है । क्योंकि वे ही हमें नित्य शान्ति प्रदान कर सकते हैं । वरद और वदान्यका एक ही तात्पर्य है । भगवान श्रीहरि हमें सर्वदा ही वरदान करनेके लिये प्रस्तुत है और महावदान्य - मूर्ति श्रीदायेविग्रह श्रीश्रीगोलक्ष्मी महाप्रभु कृष्णप्रेम प्रदान करनेके लिये सर्वदा ही प्रस्तुत हैं । उन्होंने कलिहत जीवके प्रति कृष्णा कर सर्वश्रेष्ठ वरदाताका परिचय प्रदान किया है—

तमो महावदान्याय कृष्णप्रेम-प्रदाय ते ।

कृष्णाय कृष्णचंतन्य - नामे गोरत्वये नमः ॥

अनपितचरीं चिरात् करणायावतरिणः कली
समर्पयितुमुन्नतोज्ज्वल - रसां स्वभक्ति - श्रियम् ।
हरिः पुरुष - सुन्दर - त्रृति कदम्ब - संदीपितः
सदा हृदयकन्दरे स्फुरतु वः शशीनन्दनः ॥
(विदग्धमाधव १ म अङ्कु, २ य इलोक)

परन्तु दुर्भाग्यवक्षातः ऐसे वरदका सञ्ज्ञ परित्याग
कर हम बच्चित रह गये हैं—

वच्छितोऽस्मि वच्छितोऽस्मि वच्छितोऽस्मि न संशयः।
विद्वं गौररसे ममन् स्पश्छोऽपि मम नाभवत् ॥

(श्री चतुर्थचःदामृतम् ४६)

बच्चित होनेके कारण ही हम सर्वदा अभावमें
पड़े हुए हैं । यदि पुनः उस वरदसे हमारा सम्पर्क
हो, तो हमारी समस्त कामनाओंका पूरण हो
जायगा । क्रमशः उस वरदका आश्रय प्राप्त करने
में सर्वप्रथम हमारे चित्त-दर्पणमें भोग
और त्यागरूपी धूलीराशि एकत्रित रहनेके कारण
हम अन्धकारमय जीवन यापन करते हैं । परन्तु
उस वरदकी कृपासे जब हमारे चित्त-दर्पणका
मार्जन हो जाता है, तब हमारे भव-विषय-विषयानल
रूपो अग्निका निर्वापण हो जाता है । विषय-विषय-
नलसे उद्धार प्राप्त करने पर हम श्रोवल्लभकी
अनन्त 'श्री' दर्शन करनेकी योग्यता प्राप्त करते हैं ।
ऐसी योग्यता प्राप्त करनेसे वरद भगवानको कृपासे
हम अनन्त जीवन, अनन्त ज्ञानके भण्डारमें प्रवेश
करते हैं । इस समय हम उस 'भक्तिरसामृतसिन्धु'
रूपी आनन्द समुद्रमें स्नान कर पाते हैं ।

"रमन्ते योगिनोऽनन्ते नित्यानन्दे चिदात्मनि ।
इति राम पदेनैव परं ब्रह्माभिधीयते ॥"

भगवान अनन्त प्रवारम्भ बरद होनेके कारण
उनके अपेक्षा और कौन दयावान है ? वे सर्वदा ही
जीवोंके मायिक दैन्य-दुःखादिको देखकर उनके प्रति
कृपा करनेके लिये विभिन्न शास्त्र, वेद, पुराण,
आदिकी सृष्टि किये हैं । कितने ही साधु-गृह-देव्यावों
को भेजा है । वे स्वयंरूपसे आये हैं, भक्तरूपसे आये
हैं और सर्वदा ही जीवोंके कल्याणके लिये दयापर-
वक्ष हुए हैं । दुर्भाग्यसे उस श्रीबल्लभ वरदाता-
दयापर भगवानकी कृपा प्राप्त करनेमें अनिच्छुक
होकर रक्त-माँसमय सुखोंसे प्रलोभित होकर
हम भगवानकी दयाका स्मरण नहीं करते । हम यह
भूल गये हैं कि हम भगवत् जातीय ब्रह्म-वस्तु हैं,
इसलिए परम-ब्रह्म भगवानकी दयाके बिना और
किसी प्रकारकी दयासे हमारे हृदयमें संतोष नहीं
हो सकता । रक्त-माँसके वृशीभूत होकर हम सर्वदा
ही अभावग्रस्त हैं । चाहें जागतिक धन-सम्पदके
सर्वशेष अधिकारी क्यों नहीं हों, यदि हम रक्त-
माँसको दयाकी अपेक्षा करेंगे तो हमें सर्वदा ही
अभावका मामना करना पड़ेगा । हमारा नित्य-
स्वरूप रक्त-माँसका नहीं है । इसलिए भगवानकी
दयाके बिना हमारे चित्तस्वरूपको उपलब्ध करनेका
और दूसरा कोई उपाय नहीं है ।

(क्रमशः)

—त्रिदण्डस्वामी श्रीमद्भवितवेदान्त स्वामी महाराज

श्रीचैतन्य-शिक्षामृत

(संख्या ८, पृष्ठ १७१ से आगे)

शुद्ध ज्ञानके सम्बन्धमें विचार करनेसे ग्रन्थका कलेवर बहुत ही अधिक बढ़ जायगा और वास्तविक उद्देश्य जो जीवका नित्यधर्म है, उसके सम्बन्ध में विचार करनेके लिए स्थानाभाव हो जायगा। इसलिए हम यहाँ संक्षेपमें ही शुद्धज्ञानके सम्बन्धमें विचार करेंगे।*

शुद्ध ज्ञानमें पांच प्रकारके अनुभव सम्मिलित हैं—

- (१) परेशानुभव।
 - (२) स्वानुभव।
 - (३) स्वधर्मानुभव।
 - (४) फलानुभव।
 - (५) विरोधानुभव।
- (१) परेशानुभव—परेशानुभव तीन प्रकारके हैं—(क) ब्रह्मानुभव (ख) परमात्मानुभव (ग) जगदनुभव। +
- (क) ब्रह्मानुभव—जगत्की समस्त सविशेष

चिन्ताओंके विपरीत किसी निविशेष चिन्तागत परेशानुभवको “ब्रह्म” कहते हैं। परेश-तत्त्व सर्वतो-भावेन स्वप्रकाश है। ज्ञान अनुशीलन करनेवाले जीवके सम्बन्धमें यह परेशानुभव पूर्वोक्त तीन रूपों में प्रतिभात होता है। केवलमात्र चिन्ताका मन्थन करनेसे व्यतिरेक अवस्थामें इस परेशतत्त्वका जो निविशेष आविभाव होता है, उसे ही ब्रह्म कहते हैं। परन्तु यह परेशतत्त्वका नित्यसिद्ध स्वरूप नहीं है। विचारशील व्यक्तियोंको यदि अद्वैतवादका दोष स्पृशन करें, तो इस उपायके द्वारा उन्हें किंचित् रूपमें परेश-सम्बन्धकी उपलब्धि हो सकती है। यद्यपि इसे परेशानुभव कहा जाता है, तथापि यह अत्यन्त क्षुद्र है। इसलिए अन्तमें परमानन्दप्रद नहीं होता। इसमें थोड़ी बहुत रति भी युक्त की जा सकती है, किन्तु सम्बन्धके अभावमें उसमें रति-पुष्टिकी सम्भावना नहीं है। सनकादि महात्मागण इसी रतिमें आबद्ध रहकर शान्त रतिके आश्रय रूपमें उल्लिखित हुए हैं।

४८ तत्कर्म हरितोषं यत् सा विद्या तन्मतिर्यंया ।

हरिदेहभूतात्मा स्वयं प्रकृतिरीश्वरः ॥

तत्पादमूलं शरणं यतः क्षेमो नृणामिह ।

स वै प्रियतमश्चात्मा यतो न भयमन्वयि ॥

इति वेद स वै विद्वान् यो विद्वान् स गुरुहर्षिण (भा० ४२६।४६-५१)

+ ज्ञानं विशुद्धं परमात्ममेकमनन्तरं त्वदहित्वं ह्य संत्यम् ।

प्रत्यक् प्रशान्तं भगवं च्छ्रद्धसंज्ञं यद्वासु देवं कवयो वदन्ति ॥ (भा० ५।१२।११)

(ख) परमात्मानुभव—परमात्मानुभव ही द्वितीय परेशानुभव है। तृतीय प्रकारके ज्ञान-विचारमें जिस ईश्वर ज्ञानका विचार-विवेचन हुआ है, उसके परमावस्थामें ही परमात्मानुभव उद्दित होता है। बद्धजीवोंके कर्मफलद्राता, समस्त कर्मोंके प्रयोजक-कर्त्ता, जगतमें अपुरुषमें प्रविष्ट परेश भावका नम्ब ही परमात्मा है। अष्टांग-योगादिमें जिस ईश्वर-प्रणिधानकी व्यवस्था की गई है, वह परमात्माका काल्पनिक या वास्तविक अवतार-विशेष है। उसीको शास्त्रमें पुरुष कहते हैं। परमात्माके प्रकाश दो प्रकारके हैं—(१) व्यष्टि प्रकाश और (२) समष्टि प्रकाश। समष्टि प्रकाश द्वारा वे विराट् अद्वाण-विभूत हैं। व्यष्टि प्रकाशके द्वारा वे जीवोंके सहृदय, उनके हृदयवासी अंगुष्ठ-परिमाण विशेष हैं। कर्मसार्गमें यदि वास्तविक ईश्वरका उद्दय रहे, तब ही कर्मकर्त्ता परमात्माका उपासक होगा। चिन्ताकी चरम अवस्थामें जिस प्रकार उपास्य अद्वाणका साक्षात्कार होता है, उसी प्रकार कर्मकी चरमावस्थामें उपास्य परमात्माका साक्षात्कार होता है।

(ग) भगवदनुभव—भगवदनुभव ही तृतीय और अचिन्तम परेशानुभव है।^{५८} स्वरूपविशिष्ट स्वंशक्ति-मान, समस्त गुणोंके आधार परेशतत्त्व ही भगवान हैं। मूलतत्त्वका विचार करने पर यह स्पष्ट होता है कि भगवानके अतिरिक्त और कोई दूसरी स्वतंत्र वस्तु नहीं है। भगवान शक्तिमान है। उनकी अचिन्त्यशक्तिके प्रभावसे जीव और जगत—सब कुछ आविर्भूत हुआ है। शक्तिमानसे शक्ति अभिन्न है। जगत और जीव जब भगवत्-शक्तिके परिणाम हैं, तब वे मूलतत्त्वके विचारसे कोई पृथक् स्वतंत्र वस्तु नहीं हो सकते हैं। फिर भी तटस्थ-विचारसे शक्ति को शक्तिमान वस्तु नहीं कहा जा सकता। इसलिए जगत और जीव तटस्थ-विचारसे पृथक्-पृथक् वस्तु हैं। एक ही साथ भेद और अभेद स्वीकृत नहीं होने से यथार्थ तत्त्वका ज्ञान नहीं हो सकता। यदि यह शंका उठे कि भेद और अभेद दोनों एक ही साथ कैसे सम्भव हैं तथा युक्तिके द्वारा भी इसका कैसे सामंजस्य किया जा सकता है, तो उसका उत्तर यह है कि यह तत्त्व भगवत्-स्वरूपको आश्रय करके रहता है। भगवानको अचिन्त्य शक्तिसे भगवानमें

^{५८} ज्ञानं यदा प्रतिनिवृत्तगुणोर्गच्छक्षमात्मप्रसाद उत्त यत् गुणेष्वतङ्गः ।

केवल्यसम्मतपथस्त्वय भक्तियोगः को निरुत्तो हरिकथामु रति न कुर्यात् ॥

(भा० २।३।१२)

ज्ञानं मे परमं गुह्यं यदिज्ञानसमन्वितं । सरहस्यं तदञ्जल्यं गृहाण गदितं भया ।

यावानहं यथाभावो यदूपगुणकर्मकः । तथैव तत्त्वविज्ञानमस्तु ते मदनुप्रहात् ।

अहमेवासमेवाप्ने नाम्यद यत् सदसत् परम् । तचादहं यदेतत्त्वं योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम् ॥

(भा० २।४।३०-३२)

समस्त परस्पर विपरीत धर्मोंका सामंजस्य सम्भव है। युक्तिकी वृत्ति स्वभावतः ही लुद्ध है। अतएव यह भगवत्-तत्त्वको स्पष्ट करनेमें असमर्थ है। भगवानकी इच्छा और निविकारिता, विशेषता और निविशेषता, अचिन्त्यत्व और भक्ति-गम्यत्व, निरपेक्षत्व और भक्ति-पक्षपातित्व आदि अगणित विरोधी धर्म जिस विग्रहमें सामंजस्यको प्राप्त हुए हैं, उसमें युगपत् स्वरूपगत अभेद और तटस्थ विचारगत भेद यथा नहीं स्वीकृत हो सकता है? + जो केवल अद्वेतका समर्थन करते हैं, उनका जेंसा भ्रम है, ठीक वैसा ही भ्रम केवल द्वेतका समर्थन करने वालोंका भी है। भगवान् अपने सिद्ध-विग्रहमें समस्त जीव और समस्त जगतसे पृथक् हैं। × वे स्वशक्तिके प्रभावसे समस्त जीव और जड़को नित्यता और सत्यताका सिद्धि कर रहे हैं। इसीलिए वेदोंमें कहीं-कहीं पर अद्वैतसूचक मंत्रोंका और कहीं-कहीं द्वेतसूचक मंत्रका प्रयोग किया गया है।

भगवदनुभव ही पूर्वोक्त ब्रह्मानुभव और परमात्मानुभवका चरम ग्राह्य स्थल है। पूर्वोक्त दोनों ही यानुभव जीवकी ज्ञान और -कर्मरूप शाक्षात्त्वति

से सम्बन्धित परेशतत्त्वके खण्डानुभवमात्र हैं। भगवदनुभव केवलमात्र विशुद्ध भगवत् भक्तिरूप साक्षात् दर्शनसे ही सम्भव है। स्वरूप-प्राप्त वस्तु ही प्रकृत वस्तु है। जिस वस्तुका स्वरूप-निर्दिष्ट नहीं होता, वह वस्तुका गुणमात्र है, वस्तु नहीं। बहु और परमात्माका स्वरूप निर्दिष्ट नहीं है। उनके गुणोंके परिचय से ही उनको उद्देश्य किया जाता है। इसलिए उनकी मुख्य स्थिति नहीं है। वे केवल भगवानकी जीण स्थितिमात्र हैं। इसीलिए वे केवल एकान्क वृत्तियोंके द्वारा गम्य हैं। भगवान् सर्ववृत्तिगम्य हैं। समस्त वृत्तियोंकी अधीश्वरी भक्ति हैं। वे समस्त वृत्तियोंको क्रोडीभूत कर साक्षात् भगवत् दर्शन करती-करती है। उनकी दर्शन-वृत्ति चरितार्थ होने पर तदशीन समस्त वृत्तियाँ ही तुम हो जाती हैं।

भगवदनुभव चार प्रकारके हैं—

- (१) कर्मप्रधानीभूत अनुभव।
- (२) ज्ञानप्रधानीभूत अनुभव।
- (३) कर्म-ज्ञान उभय प्रधानीभूत अनुभव।
- (४) केवलानुभव।

जब तक जीवोंका जड़-सम्बन्ध दूर नहीं हो

ऋग्वेद भगवान् कालशक्तिः गुणप्रव्याहैन विभक्तवीर्यः।

करोत्यकर्त्तव निहत्यहन्ता वेष्टा विभूतः ललु दुर्विशाष्याः॥ (भा० ४।१।१५)

+ यहिमन् विशद्गतयो द्विनिशं पतनित विद्यादयो विविधशक्तय आनुपूर्वया।

तद्वद्वा विश्वभवमेकमनन्तमात्मामानन्दमात्रविकारमहं प्रपद्ये॥ (भा० ४।६।१६)

× यथा महान्ति भूतानि भूतेषूच्चावचेष्वनु।

प्रविष्टाम्यप्रविष्टानि तथा तेषु न तेष्वहम्॥ (भा० ३।६।३४)

जाता, तब तक भगवदनुभवकायं सब जगह एक ही समान नहीं होता। किसी किसीकी कर्म-प्रधाना बुद्धि भक्तिकी सेवामें नियुक्त रहकर उसके भगवदनुभव को कर्मप्रधानीभूतके रूपमें प्रकाशित करती है। किसी किसीकी ज्ञान-प्रधानीभूता बुद्धि भक्तिकी सेवामें नियुक्त होकर भगवदनुभवको ज्ञानप्रधानीभूत रूपमें प्रकाशित करती है। उसी प्रकार ज्ञान और कर्म-उभयनिष्ठ बुद्धि भक्तिकी सेवामें नियुक्त होकर उभय-प्रधानीभूत भगवदनुभवको प्रकाशित करती है। ये तीनों प्रकारके अनुभव जड़ से मुक्त होने पर महिमज्ञानयुक्त भगवदनुभवके रूपमें परिलक्षित होते हैं। इन अनुभवोंसे युक्त चरमगति भगवत्-पार्वदके रूपमें सालोक्य, साष्टि और सामीप्य—इन तीन रूपोंमें होती है। साधन कालमें जो रागानुग मार्गके अनुसार साधन करते हैं, सिद्धिकालमें उनको केवलानुभवरूप ज्ञानको प्राप्ति होती है।* वास्तवमें भगवदनुभव दो प्रकारके हैं—(क) महिमज्ञानरूप अनुभव और (ख) केवलज्ञानरूप अनुभव। महिमज्ञानरूप अनुभवके विषय परब्योमवासी अगणित ब्रह्माण्डोंके राजराजेश्वर परमैश्वर्य-

पति श्रीनिवास नारायणचन्द्र ही लक्षित होते हैं। केवल मिथित महिमज्ञान सम्बन्धसे मथुरानाथ और द्वारकानाथ भगवान श्रीकृष्णचन्द्र ही विषय हैं। जहाँ शुद्ध केवलज्ञान है, वहाँ ब्रजपति श्रीकृष्णको ही अनुभवका एकमात्र विषय जानना चाहिए। महिमज्ञान एवं केवलानुभवका जो भेद है, वह नित्य भगवत्-तत्त्वगत है। वह भेद केवल प्रपञ्चमें साधनकालमें ही लक्षित होता है, ऐसा नहीं। दोनों प्रकार के भगवदनुभव ही वेकुण्ठतत्त्वके अनुगत और नित्य हैं।

भगवदनुभव—महिमज्ञानसे युक्त हो अथवा केवल हो, तीन प्रकारका होता है—

- (१) स्वरूपगत भगवदनुभव।
- (२) जक्षिगत भगवदनुभव।
- (३) क्रियागत भगवदनुभव।

भगवानका नित्य विश्रह ही भगवानका स्वरूप है। ऐश्वर्य, वीर्य, यशः, श्री, ज्ञान और वैराग्य—ये भगवानके छः स्वरूपगत गुण हैं।* जड़ीय वस्तुओंमें जिस प्रकार गुण और गुणीका परस्पर

*३ तजन्म तानि कर्माणि तदायुस्तन्मनो वचः । नुरां येन हि विश्वात्मा सेवते हरिरीश्वरः ॥

कि जन्मभिक्षिभिर्वेह शौक्यादिव्ययाजिकः । कर्मभिवा ज्योत्रोक्तः पुंसोऽपि विद्वायुषा ॥

अत्रेन तपसा वा कि वचोभिदिवत्तदृत्तिभिः । युद्धा वा कि निपुण्या वलेनग्नियराघसा ॥

किवा योगेन सांख्येन न्यासस्वाध्याययोरपि । किवा श्रेयोभिरन्यद्वच न यत्रात्मप्रदो हरिः ॥

श्वेयासामग्नि सर्वेषामात्माद्वचविरपुंतः । यत्रेषामग्नि भूतानां हरिरात्मात्मदः विष्यः ॥

(भा० ४।३०।६-१३)

*४ ऐश्वर्यस्य समप्रस्य वीर्यस्य यशसः विष्यः ।

ज्ञानवैराग्योश्चर्व वर्णा भग इतीज्ञना ॥ (विष्णुपुराण)

भेद होता है, प्रकृतिसे अतीत तत्त्व भगवानमें इस प्रकारका कोई भेद नहीं होता। फिर भी गुणसमूह जिस विशेष गुणके द्वारा नियमित होते हैं, वही गुण सर्वप्रधान होकर सब गुणोंके आधारके रूपमें प्रकाशित होता है। पूर्वोक्त छः गुणोंमें से 'श्री' अर्थात् शोभा यद्यपि गुणोंके अन्तर्गत ही परिणामित है, फिर भी श्री ही समस्त गुणोंका आधार है। श्रो ही भगवत्तविग्रहरूपिणी परमा शक्ति है। उसी विग्रहमें अन्यान्य समस्त गुण न्यस्त होकर भगवान के अखण्डत्व, सर्वप्रभुत्व, असीम धीर्घ, अनन्त यशः, सर्वज्ञता और सर्वविद्योंके विधातृत्वका विधान कर रहे हैं। जो लोग भगवानके नित्य विग्रहको स्वीकार नहीं करते, वे भक्तिवृत्तिकी नित्यताकी कदापि रक्षा नहीं कर सकते। + अचिन्त्य-विग्रह श्रीभगवान चित्तजगत्के मूर्यस्वरूप प्रकाशमान तथा चन्द्रस्वरूप आनन्दविस्तारक हैं। विग्रह होनेसे वह विग्रह जड़ीय ही होगी, ऐसा मिद्दान्त जड़बुद्धिवाले व्यक्ति ही किया करते हैं। जड़जगतमें जिस प्रकार जड़ोय विग्रहके द्वारा व्यक्तियोंमें परस्पर भिन्नताका परिचय पाया जाता है, चित्तजगत्में भी उसी प्रकार चित्तविग्रहके द्वारा भगवान अन्यान्य चित्तसे पृथक् रहते हैं। भगवानका चिद्विग्रह समस्त चित्ततत्त्वका परमाकर्षक और अधिपति है। जड़-जगतमें विशेष नामक जो धर्म है, वह जड़ जगत्में ही उत्पन्न होकर

जड़के सहित ही लय हो जाता है—ऐसी बात नहीं जड़ जिस प्रकार चित्ततत्त्वका प्रतिफलित तत्त्व-विशेष है, उसी प्रकार विशेष धर्म भी चिदगत धर्म है। प्रतिफलित जड़में प्रतिफलित धर्मके रूपमें वह प्रकाशित हुआ है। यदि विशेष तत्त्व भगवत्तत्त्वगत धर्म नहीं होता, तो किसी प्रकार भी सृष्टि सम्पन्न नहीं हो सकती थी एवं जीव भी अस्तित्वको प्राप्त होकर जड़के सम्बन्धमें विचार नहीं कर पाता। उसी चिदगत विशेष धर्मके द्वारा परमेश्वरकी शक्ति, इच्छा और क्रिया—सभी विचित्र हैं। भगवानका श्रीविग्रह सारे वैकुण्ठतत्त्वसे पृथक् रहकर भी सर्वत्र व्यापक है। यहाँ तक कि वैकुण्ठके प्रतिफलन स्वरूप जड़-जगतमें भी वे सर्वत्र पूर्ण रूपसे युगपत् अवस्थित हैं। इसलिए भगवानका स्वरूप विग्रह अलौकिक और अचिन्त्य है। * उसी स्वरूप त्रूपके गुण-किरण रूप ब्रह्मा अनन्त जगत्के जीवनके रूपमें वत्तमान हैं। परमात्मा समष्टि और व्यष्टि जगत्के नियामक रूपमें वत्तमान हैं। ब्रह्म एवं परमात्मरूपमें सर्वव्यापी होने पर भी भगवत्तस्वरूप नित्य वैकुण्ठके लोला-विग्रह विशेष हैं। ऐश्वर्यप्रधान प्रकाश में इस विग्रहकी एक प्रकारकी मूर्ति होती है। वही मूर्ति अनन्त मूर्तियोंके रूपमें भिन्न-भिन्न लोलाओं का आश्रय है। माधुर्य प्रधान प्रकाशमें वही विग्रह श्रोकृष्णरूपमें चिद्विलास समूहोंके अनन्त अन्तरङ्ग

+ सबे एकगुण देखि तोमार सम्बद्धाये।

सत्यविग्रह ईश्वर करह निदवये ॥ (प्रभु वाच्य, च० च० म० ६८)

* सर्वेषामपि वस्तुनां भावार्थो भवति स्थितः ।

तस्यापि भगवान् कृष्णः किमन्दस्तु रूप्यताम् ॥ (भा० १०।१४।५७)

प्रभावसे मण्डित होकर नित्य द्रुजलीला परायण है। + जिनके हृदयमें रस-तत्त्व प्रकाशित होता है, वे ही इस लीलाका अनुभव कर पाते हैं। भगवान् का स्वरूप नित्यसिद्ध है। कोई विशेष चिन्मय धारा, उपकरण, चिन्मय काल और परिकरसमूह उस स्वरूपके नित्य सहचर हैं। उस रसके रसिक व्यक्तियोंके निकट ही वह आस्वादनीय होता है। उसी स्वरूपको आश्रय कर अनन्त चिद्विलास नित्य नवीन रूपमें प्रवाहित हो रहे हैं। वह स्वरूप, उनका धारा, उनका उपकरण, उनके सहचर और उनके विलास-सभी चिन्मय हैं, नित्य हैं, परम उपादेय, निर्दोष एवं समस्त विशुद्ध जैव आशाके एकमात्र विषय हैं।

निविशेष-कल्पना

जड़ जगत अच्छा नहीं लगता, अथव उच्च जगतकी भली भाँति उपलब्ध भी नहीं हो सकी है, ऐसी अवस्थामें विद्यमान व्यक्ति एक निविशेष कल्पना करते हैं। गम्भीर रूपमें विचार किए दिन। ही वे ऐसा सिद्धान्त गढ़ लेते हैं कि जड़ जगतके ठीक विपरीत जितने भी भाव हैं, उनकी समष्टि द्वारा जगत निरूपित होता है। जैसे— जड़ जगतमें आकार, विकार, गुण, विशेष, छाया, कर्म एवं अनेकत्व आदि भाव-समूह पाये जाते हैं। इनके ठीक विपरीत निराकार, निविकार, निगुण, निविशेष, अछाया, नैष्ठकर्म्म एवं अद्वयत्व आदि ये समस्त भाव-समूह एकत्रित होकर जिस जगतको प्रकाशित करते हैं, वही उच्च जगत है। परन्तु

सूक्ष्म रूपसे विचार करनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि यह सिद्धान्त केवल युक्तिद्वारा कल्पित है। जड़से ही युक्तिका जन्म होता है। अत्यन्त मध्ये जाने पर युक्ति उसके विषयोंके एक विपरीत भावको कल्पना करा देती है। अतएव यह सिद्धान्त कल्पना की एक प्रकारकी अवस्था ही है। चिदालोचनाके द्वारा जो कुछ पाया जाता है, उस वस्तुको कल्पना नहीं दे सकती। देनेकी बात तो अलग रहें, उसे स्पर्श तक नहीं कर सकती। अच्छा, युक्ति ही यह बतलायें कि वस्तुका लक्षण क्या है और अवस्तुका लक्षण क्या है। युक्ति यदि पक्षपाती और कुसंस्कारविशिष्ट न हो, तो वह अवश्य ही यह कहेगी कि अवस्तुका नाम असत्ता है अर्थात् जो नहीं है, वही अवस्तु है। तथा जिसकी सत्ता है वही वस्तु है। आशाकृत जगत यदि अवस्तु हो, तो उसके सम्बन्धमें सिद्धान्त करना अथवा उसको जाननेके लिए साधनादि परिश्रम करना—सभी कुछ मिथ्या और व्यर्थ है। यदि वह वस्तु है, तो उसमें वस्तुका लक्षण होना चाहिए, वस्तुका लक्षण क्या है?—वस्तुका लक्षण यह है कि प्रत्येक वस्तुमें (१) अस्तित्व, (२) विशेष, (३) क्रिया और (४) प्रयोजन अवश्य रहेंगे। यदि अस्तित्व न रहें, तो नास्तित्व उपस्थित होकर वस्तु को लोप करता है। यदि विशेष न रहें, तो उस वस्तुका स्वतन्त्र वस्तुत्व सिद्ध नहीं होता। यदि क्रिया नहीं रहती, तो परिचयके अभाव में उसे आभास ही कहा जायगा। यदि प्रयोजन नहीं

+ यन्मत्त्वलीकौण्यिकं स्वयोगमायावतं दर्शयता गृहीतम् ।

विस्मापनं स्वस्य च सौभग्दौ परं पदं भूषणाङ्गम् ॥ (भा० ३।२।१२)

रहें, तो उसे स्वीकार करना व्यर्थ है। उच्च जगत् को अवश्य ही वस्तु कहना होगा। उसका अस्तित्व है, किया है और प्रयोजन है। जड़ जगत् का विपरीत धर्म यह है कि वह वस्तु है ऐसा किसने कहा है? यदि ऐसा कहना चाहो, तो तुम्हारे सिद्धान्त को भिक्षा-लब्ध सिद्धान्त कहेंगे। यदि विशुद्ध रूपमें युक्तिकी सहायता लो, तो अवश्य यही कहोगे कि वह उच्च जगत् दोष-शून्य और जड़से विलक्षण है। जड़से विपरीत कहनेसे एक अपक्व सिद्धान्त तुमपर आक्रमण करेगा। कोई विपरीत वस्तु है या नहीं, उसका कोई भी परिचय नहीं है। अतएव विपरीत वस्तु स्वीकार करना निशाखोरोंका सिद्धान्त हो पड़ेगा। जड़के हेयत्व-वज्जित लक्षण द्वारा उस जड़से विलक्षण जगत् का अनुभव करनेसे दोष नहीं होता। विजेताकर मुक्तिशूल यन्त्र जड़के आत्मरक्त किसी सत्त्वका परिचय करनेमें असमर्थ है। परन्तु जीवके चित् सत्त्व पर जो विशुद्ध जान-लक्षणरूप आत्म-प्रत्यय वृत्ति है, उसीके द्वारा उस उच्च जगत् के अस्तित्व, विशेष, क्रिया और प्रयोजन—कुछ-कुछ

अंशोमें परिज्ञात होते हैं। चित् वस्तुमें अस्तित्व, विशेष, क्रिया और प्रयोजन नहीं है—ऐसा कहनेसे चित् तत्त्व स्वीकृत नहीं होता। यदि युक्तिवादी कुसंस्कारको छोड़कर इस विषयकी निरपेक्ष आलोचना करें, तो वे सहज ही इस विषयको समझ सकते हैं।^{४६}

भगवानकी शक्ति अचिन्त्य है

शक्तिगत भगवत् अनुभव होने पर जीवके सारे संशय दूर हो जाते हैं। भगवानकी शक्ति अचिन्त्य, अवितर्य, और अपरिमेय है।+ भगवत् स्वरूपसे वस्तुतः अभिन्न किन्तु कार्यतः भिन्न रूपमें यह शक्ति प्रकाशित होती है। मानवबुद्धि जितनी भी दूर क्यों न जाय, वह पराशक्तिके सम्बन्धमें कुछ भी सिद्धान्त नहीं कर सकती। फिर भी दुराप्रह कर उसके सम्बन्धमें कोई सिद्धान्त करनेकी चेष्टा करें, तो वह पशुको तरह निष्ठेष्ट होकर आशाहीन हो पड़ेगी। वह पराशक्ति समस्त विरोधी गुणोंकी आश्रयस्थली और नियामिका है। इच्छा और

^{४६} इदं हि विश्व भगवानिवत्तरो यतो जगत् स्थाननिरोधसम्भवाः।

तद्द्वि स्वयं वेद भवास्तथापि ते प्रादेशमात्रं भवतः प्रदग्नितम् ॥ (भा० १।५।२०)

अथो महाभाग भवानमोवद्वक् शुचिश्वाः सत्यरतो युतवतः।

उद्गमस्याखिलबन्धुमुक्तये समाधिनानुस्मर तद्विचेष्टितम् ॥ (भा० १।२।११)

+ अतो भागवती माया मायिनामपि मोहिनी।

यतस्वयं चात्मवत्मत्मा न वेद किमुतापरे ॥ (भा० ३।६।३५)

नमो नमस्तुम्यमसहघवेग शक्तिप्रवालिलधीगुणाय।

प्रपञ्चपालाय दुरन्तशक्तये कदिन्द्रियायागुणमनवाप्यवत्मने ॥ भा० ३।३।२८

निविकारिता, विशेष और निविशेषता, एक स्थान व्यापित्व और सर्वव्यापित्व, बैराग्य और रागविलास नैष्कर्म्म और क्रिया, युक्ति और स्वेच्छामयता, विधि और स्वाधीनता, प्रभुत्व और केंकर्य, सर्वज्ञ और ज्ञानसंग्रह, मध्यमाकार और अपरिमेयता, सर्वार्थसिद्धता और बालचेष्टा—ऐसे-ऐसे समस्त प्रकारके परस्पर विरोधी गुण-समूह इस शक्तिके आश्रयमें सामजंस्य स्वीकार करते हैं। उस पराशक्तिके चितुप्रभावके द्वारा भगवत्स्वरूप, विश्रह, लीलास्थान एवं लीलाके उपकरणसमूह नित्यरूपमें प्रकाशमान हैं।* उसी शक्तिके जीव-प्रभाव द्वारा अनन्त संख्यक मुक्त और बद्धजीव अनन्त चित्कालमें अवस्थित हैं। उसी शक्तिके माया प्रभावसे अनन्त जड़मय जगत् उत्पन्न होकर बद्धजीवोंके पात्त्य-

निवासके रूपमें विस्तृत हैं। उन-उन प्रभावोंके सन्धिनी अंशसे उन-उन धारोंके देश, काल, स्थान, द्रव्य और अन्यान्य उपकरण समूह उत्पन्न हुए हैं। सम्बित् अंशसे भाव, ज्ञान और सम्बन्ध समूह उत्पन्न होकर अपने-अपने धारकों भाव विचित्रताको प्रकाशित कर रहे हैं। ह्लादिनीके अंशसे सब प्रकार के धारोंपर्योगी आनन्दस्वरूप आस्वादन कार्यका सम्पादन होता है। संक्षेपमें यह जान लेना चाहिए कि भगवत् बस्तु अपनी शक्तिके द्वारा ही प्रकाशित हैं। +

कियागत भगवदनुभवका बर्णन रस-विचारमें किया जायगा। उसके सम्बन्धमें यहाँ विस्तारपूर्वक नहीं लिखा गया।

(क्रमशः)

* यथात्ममायायोगेन नानाशक्तयुपर्वृहितम् ।

विलुभ्यन् विमुजन् गृह्णन् विभदात्मानमात्मना ॥

क्रीडस्यमोघसंकल्प ऊर्णनाभिर्यथोर्णुते ।

तथा तद्विषयो धेहि मनोषो मयि माघव ॥ (भा० २।६।२६-२७)

+ ह्लादिनी सन्धिनी सम्बित्वयेका सर्वसंशये ।

ह्लादिनापकरी मिथा त्वयि नो गुणवज्जिते ॥ (विष्णु पुराण)

त्रिदण्डस्वामी श्रीमद्भक्तिप्रकाश अरण्य

महाराजका स्वधाम-प्रयाण

अतिशय विरह-वेदनाके साथ यह संवाद दिया जा रहा है कि जगद्गुरु श्रीश्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी ठाकुर के चरणाश्रित और उन्हीं से सन्यास प्राप्त श्रील अरण्य महाराज गत २१ पौष, ६ जनवरी शुक्रवार एकादशी तिथिकी शामको ६-३० मिनट पर बसिरहाटके निकटवर्ती धलतिखा ग्राम (पश्चिम बंगाल) में अपने अनुगत श्रीयुक्त ननीगोपाल कुण्डु महोदयकी ठाकुर बाड़ीमें श्रीश्री-गुरु-गोराङ्गकी वारणीका कीर्तन करते-करते ज्ञानावस्थामें ही नित्यलीलामें प्रवेश कर गौड़ीय सारस्वत समाजको गंभीर विरह सागरमें निमज्जित कर दिया है। समग्र गौड़ीय सारस्वत समाजमें स्वामीजी महाराजकी अलौकिक वारिमत। और श्रील प्रभुपाद की वारणी कीर्तन करनेमें अद्भुत प्रतिभा एक बड़े विस्मयको बात थी।

एकादशो व्रतोपवासके उपलक्ष्में स्वामी महाराज अपने शिष्य और अनुगत लोगोंके समीप कृष्ण-कथाका कीर्तन कर रहे थे। निकटवर्ती ग्राममें उनके एक गुरु-भाताका आगमन समाचार पाकर उन्होंने उनको भी वहाँ बुला लिया था। वे भी उक्त हरि-कीर्तन-सभामें उपस्थित थे। इस प्रकार हरि-कीर्तनके बीच ही अकस्मात् स्वामीजी महाराज को कुछ घबराहट सी प्रतीत हुई। फिर भी कीर्तन करना छोड़ा नहीं और कीर्तन करते-करते थोड़ी

देर बाद ही ज्ञानावस्थामें नित्यधामको चले गये। इस प्रकार अलौकिक रूपसे उनको देह-रक्षा करते देखकर समस्त उपस्थित जनता विस्मित हो उठी।

पिछ्ने दामोदर-ब्रतके समय श्रीकेशवजी गौड़ीय मठ, मथुरामें अस्मदीय श्रीश्रील गुरुपादपद्मकी उपस्थितिमें त्रिदण्डस्वामी श्रीमद्भक्तिवेदान्त भिक्षु महाराजकी विरह - सभामें स्वामीजी महाराजने वैष्णव-जगतमें विरह तत्त्वके सम्बन्धमें एक दार्थ-निक विचारपूर्ण भाषण प्रदान किया था। शायद प्रकाश्य सभामें यही उनका अन्तिम भाषण था।

यशोहर जिलामें गंगारामपुर ग्राममें उनका पूर्वनिवास था। गृहस्थाश्रममें रहते समय ही वे श्रील प्रभुपादके चरणाश्रित हुए थे। वे पाश्चात्य शिक्षामें अधिक शिक्षित न होने पर भी भक्तिसिद्धान्तका अफुरन्त भण्डार उनके अन्दर भरपूर था। उसकी परिवेशनकी शैली इतनी सुन्दर थी कि वह सतीर्थ वैष्णवोंको ही नहीं, अपितु अनेक उच्च जिक्षिन व्यक्तियोंको भी बिना मुग्ध किये नहीं रहती। विश्व-व्यापी गौर-वारणीका कीर्तन करने वाली श्रीगौड़ीय वेदान्त समितिके प्रतिष्ठाताके प्रति उनका अत्यन्त प्रीतिपूर्ण भाव था। वे अधिकांश ही कहा करते थे कि “श्रील प्रभुपादकी वारणीकी निर्भीक भावसे तथा तेजस्विताके साथ ये ही कुछ प्रचार कर सकते हैं और कर भी रहे हैं।” यहाँ

तक कि उन्होंने कुछ दिन पहले अपने प्रतिष्ठित मठोंको गौड़ीय वेदान्त समिति के पास दान करनेके लिये अत्यन्त आग्रह किया था और इसके लिये अस्मदीय आचार्य पादपद्मको अनेक प्रचुर अनुरोध किया था । वे अब सर समिति के मठोंमें आगमन कर सेवकोंको नाना प्रकारकी हृतकर्णरसायनो हरिकथा श्रवण कराते, परन्तु याज हमारा दुर्भाग्य है कि उनके स्वधाम-प्रयाणसे हमारे करण उनके ओज-स्थिवनी हरिकथासे बंचित हो गये । वे प्रचुर आशीर्वाद करें जिससे हम भी उनके मूर्तिमान आदर्शको ग्रहण कर वाणीकी सेवा करनेमें अधिकार प्राप्त कर सकें । अन्तमें यह परितापका विषय है कि उनके अप्राकृत कलेवरको पूज्यपाद त्रिदण्डस्वामी श्रीमद्भक्तिविलास तीर्थ महाराजके निर्देशसे प्रचुर अर्थ खच्च करके मोटरके द्वारा धलतिखा ग्रामसे कलकत्ता-केवहातला इमणानमें लेकर अग्निदाह किया गया है । यह कार्य जाश्वत स्मृति ग्रन्थके द्वारा अनुमोदित नहीं है । हम लोग इसके लिये विशेष दुःखित हैं क्योंकि सन्यासियोंकी देहको समाधिस्थ करनेकी विधि है और विशेषकर पूज्यपाद श्रीग्ररण्य महाराज जगद्गुरु श्रील प्रभुपादके प्रतिष्ठासम्पन्न प्राचीन सन्यासी थे ।

कलकत्ता श्रीचैतन्य गौड़ीय मठमें श्रीश्रील आचार्यदेव

विगत १२ बीं माघ बृहस्पतिवारसे १५ माघ बुधवार पर्यन्त कलकत्ता ३५ न. सतीश मुखर्जी रोड स्थित श्रीचैतन्य गौड़ीय मठके नवनिर्मित श्रीमन्दिर एवं नाळ्यमन्दिरकी प्रतिष्ठा और वाष्पिक उत्सव सम्पन्न हुए हैं । उक्त मठके अध्यक्ष पूज्यपाद

त्रिदण्डस्वामी श्रीभक्ति दयित माधव महाराजने स्वयं श्री गौड़ीय वेदान्त समिति के प्रतिष्ठाता एवं आचार्यपादपद्मको उत्सवमें योगदान करनेके लिये श्री देवानन्द गौड़ीय मठमें आकर अनुरोध किया था । तदनुसार श्रीश्रील गुरुपादपद्मने कुछ ब्रह्मचारियोंके साथ ११ माघके शामको नवद्वौपसे यात्रा कर श्रीचैतन्य गौड़ीय मठमें शुभ विजय किया था । इस महोत्सवमें जगद्गुरु श्रील प्रभुपादके अनुगत बहुतसे सन्यासियोंने योगदान किया था । कलकत्ता महानगरीके अनेक विशिष्ट और संभ्रान्त व्यक्तियोंने भी इसमें योगदान किया था । पूज्यपाद त्रिदण्डस्वामी श्रीमद्भक्तिरक्तक श्रीबर महाराजने उक्त मन्दिर और नाळ्यमन्दिरका द्वार उद्घाटन किया । पूज्यपाद श्रीमद्भक्तिभूदेव श्रीती महाराज और पूज्यपाद भक्तिप्रभोद पुरो महाराजजीने प्रतिष्ठा कार्यके अन्नगत अनुशासिक होम और यज्ञादि कार्यों को समाप्त किया ।

श्रीश्रील आचार्यदेवने १२, १४ और १८ माघ को क्रमशः मठ-मन्दिरकी आवश्यकता, गोताकी शिक्षा और धुगधर्म-इन तीन विषयों पर गवेषणा-पूर्ण और दार्शनिक भावनांभीर भाषण प्रदान किये । उक्त दिनोंमें क्रमशः कलकत्ता हाईकोर्टके प्रधान विचारपति माननीय श्रीयुक्त दीप नारायण सिह, श्रीयुक्त शम्भुनाथ बनर्जी (भूतपूर्व उप-आचार्य कलकत्ता विश्वविद्यालय) और कलकत्ता हाईकोर्टके माननीय विचारपति श्रीयुक्त परेशनाथ मुखर्जीने सभापतिका आमन अलंकृत किया । इसके बीचमें श्रील आचार्यदेव १५ माघ रविवारके शामको आनन्दपाड़ामें श्रीश्रील नरहरि प्रभुके विरह

महोत्सवमें योगदान किया और दो दिनों तक वहाँ धर्म-सभामें पीरोहित्य एवं भाषण कर १७ माघको पुनः श्रीचेतन्य गठमें उपस्थित हुए। तदन्तर २० माघ शुक्रवारको सगोष्ठी श्रीधाम नवद्वीपके श्रीदेवानन्द गोड़ीय मठमें पधारे। हम लोग श्रीचेतन्य गोड़ीय मठमें दिये हुए भाषणोंको अगली संख्याओंमें क्रमशः प्रकाशित करेंगे।

—निजस्व संवाददाता

श्रीश्रीव्यासपूजा—महोत्सव

विगत १४ फालगुन, २७ फरवरी, सोमवार श्रीश्रील गुरुपादपद्म ३५ विघ्नपुणाद परमहंसस्वामी श्रीश्रीमद् भक्ति प्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराजको शुभाविभवि तिथिसे आरम्भ कर १ माहं बुधवार शोभीत भृतिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी ठाकुर की शुभाविभवि तिथ तक तीन दिन श्री गोड़ीय वेदान्त समितिके अन्तर्गत सभी मठोंमें श्रीश्रीव्यास-पूजाका अनुष्ठान वडे समारोहके साथ सम्पन्न हुआ है।

प्रथम दिन माघी कृष्णा तृतीयाको श्रील सरस्वती प्रभुपादके अन्तर्ज्ञ प्रिय पांचदप्रब्रह्म श्रीश्री आचार्यदेवबो शुभाविभवि तिथिके दिन सर्वत्र ही हरिसंकीर्तनके माध्यमसे श्रीश्री व्यासपूजा और तदज्ञभूत पूजा-पंचक अर्थात् कृष्ण-पञ्चक, व्यास-पंचक, मध्वादि आचार्य-पंचक, सनकादि-पंचक, गुह पंचक और तत्त्व-पंचककी पूजा और होमके पश्चात् आचार्यके श्रीश्री अशोक, अभय और श्रीकृष्ण-प्रेमद श्रीचरण-कमलोंमें श्रीश्री गुरुसेवाओं ने श्रद्धांजलि अर्पित की। शामको विशेष धर्म-सभा

में हरि-कीर्तनके पश्चात् श्रीश्रीव्यासपूजाका महत्व, श्रीश्रीव्यासदेवका दान-वैशिष्ट्य और श्रीगुरुतत्त्व आदि विषयों पर सार गम्भित भाषण तथा श्रीचेतन्य भागवतसे श्रीव्यासपूजा प्रसङ्ग पाठादि कार्यक्रम सुचारू रूपसे सम्पन्न हुए हैं।

दूसरे दिन भी सबेरे शाम हरिकीर्तन, भाषण और श्रोमद्भागवतका पाठ हुप्रा है। तीसरे दिन जगद्गुरु श्रील प्रभुपादकी आविभवि तिथि माघी कृष्णा पंचमीको उनके श्रीचरणोंमें श्रद्धांजलि अर्पणके पश्चात् विशेष धर्म-सभाओंमें श्रील प्रभुपाद के अतिमत्यं जीवन चरित्र तथा उनकी अप्राकृत शिक्षाओंके सम्बन्धमें विभिन्न वक्ताओंने भाषण दिए। अन्तमें सर्वत्र ही श्रील प्रभुपादकी आरति और भोग-रागके पश्चात् उपस्थित जनसमूहको भगवत् प्रपाद वितरित किया गया।

इस वर्ष परमाराध्यतम श्रीश्रील आचार्यदेव व्यासपूजाके अवसर पर श्रीदेवानन्द गोड़ीय मठमें विराजमान रहनेके कारण उक्त मठमें श्रीश्री व्यास-पूजा विशेष समारोहपूर्वक अनुष्ठित हुआ है। वहाँ पर उपस्थित अनेकों त्रिदण्डि सन्यासियों और ब्रह्मचारियोंके भाषणके पश्चात् श्रीश्रील आचार्यदेवने श्रीव्यासपूजाके सम्बन्धमें अन्तिम दिवसकी सभामें श्रीगुरुपादपद्मने उच्च शिक्षित धर्म-सभामें “वेदव्याया और श्रोतुं प्रभुपाद” विषय पर एक अद्भुत तत्त्वपूर्ण भाषण प्रदान किया।

श्रीकेशवजी गोड़ीय मठ, मथुरामें पूज्यपाद त्रिदण्डिस्वामी श्रीभक्ति कुशल नारसिंह महाराज, त्रिदण्डिस्वामी भक्तिवेदान्त मुनि महाराज, त्रिदण्डि-

स्वामी श्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायण महाराज तथा श्रीकृष्णस्वामीदास ब्रह्मचारी आदि वक्ताओंने प्रतिदिन कीतन और पुष्पांजलि के पश्चात् शामको श्रीगुरुतत्त्व, श्रीवेदव्यासका चरित्र और उनकी शिक्षा, तथा श्रील प्रभुपादका अतिमत्यं-जीवन चरित्र एवं उनकी शिक्षाएँ—इन विषयों पर विशद रूपसे प्रकाश डाला। प्रथम और तृतीय दिन उपस्थित सबको महाप्रसाद वितरण किया गया।

इसके अतिरिक्त श्रीउद्धारण गौड़ीय मठ चूंचड़ा, श्री गोलोकगंज गौड़ीय मठ आसाम तथा गदामथुरा पंचम खंडके रामनगर आबाद नामके ग्राममें पूज्य-

पाद त्रिदण्डस्वामी श्रीमद्भक्ति वेदान्त वामन महाराजके सभापतित्वमें गौड़ीय वेदान्त समितिकी धारामें व्यासपूजा अनुष्ठान बड़े समारोहके साथ सम्पन्न हुआ है। तीनों दिन शामकी धर्म सभामें श्रीपाद वामन महाराजजी तथा श्रीगौड़ीय वेदान्त समिति चतुष्पाठीके अध्यापक पण्डित श्रीपाद राघवचेतन्य छ्याकरणातीर्थके तत्त्वपूर्ण भाषण हुए हैं। उपस्थित विराट् जनसमूहको महाप्रसाद वितरण किया गया।

—निजस्व संवाददाता

श्रीभागवत-पत्रिकाके सम्बन्धमें विवरण

(१) प्रकाशनका स्थान—श्रीकेशवजी गौड़ीय मठ मथुरा।

(२) प्रकाशनकी अवधि-मासिक।

(३) मुद्रकका नाम—श्रीहेमेन्द्रकुमार।

राष्ट्रगत सम्बन्ध—हिन्दू (भारतीय)।

पता—साधन प्रेस, डेम्पियर नगर, मथुरा।

(४) प्रकाशकका नाम—श्रीकुंजविहारी ब्रह्मचारी।

राष्ट्रगत सम्बन्ध—हिन्दू (गौड़ीय वेष्णव)।

पता—श्रीकेशवजी गौड़ीय मठ मथुरा।

मैं कुंजविहारी ब्रह्मचारी, इसके द्वारा धोषित करता हूँ कि ऊपर लिखी वातें मेरी जानकारीमें और विश्वासके अनुसार सत्य हैं।

१५ अप्रैल १९६७

५—सम्पादकका नाम—त्रिदण्ड स्वामी श्रीमद्भक्ति वेदान्त नारायण महाराज।

राष्ट्रगत-सम्बन्ध—हिन्दू (गौड़ीय वेष्णव)।

पता—श्रीकेशवजी गौड़ीय मठ मथुरा।

(६) पत्रिका का स्वत्वाधिकारी—श्रीगौड़ीय वेदान्त समितिके तरफसे उसके प्रतिष्ठाता श्रीर नियामक परमहंस स्वामी श्रीमद्भक्ति प्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराज। समिति अनरेजिस्टर्ड।

—कुंजविहारी ब्रह्मचारी